दक्खिनी हिंदी

दक्खिनी हिंदी

बाबूराम सक्सेना
एम० ए०, डी० लिट्०
प्राध्यापक, संस्कृत विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय

१९५२
हिंदुस्तानी एकेडेमी
उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद

डा० धीरेंद्र वर्मा

को

सस्नेह समर्पित

प्रकाशकीय

इस पुस्तक में डा० बाबूराम सक्सेना के दक्खिनी हिंदी संबंधी तीन व्याख्यान संगृहीत हैं। पहला व्याख्यान १८ मार्च सन् १९४५ ई० को पढ़ा गया था। शेष दो पढ़े हुए मान लिये गये थे। ये ही तीनों व्याख्यान पुस्तक रूप में प्रकाशित हो रहे हैं।

हिंदी भाषा का विकास और उसमें साहित्य-रचना का कार्य केवल उत्तरी भारत में नहीं हुआ है। दक्षिणी भारत की मुसलमानी रियासतों, उनके शासकों एवं उनके दरबार के तथा अन्य साहित्यिकों का भी इसमें महत्वपूर्ण हाथ है। मुसलमान फ़क़ीरों, सैनिकों और राज्य-स्थापकों के द्वारा साहित्यिक हिंदी दक्षिण भारत में पहुँची थी और पंद्रहवीं शताब्दी तक उसमें उच्चकोटि का साहित्य निर्मित होने लगा था। प्रस्तुत पुस्तक इसी संबंध में किये गये अध्ययन का परिणाम है। भाषा-विज्ञान और साहित्य दोनों ही दृष्टियों से इसमें दक्खिनी हिंदी का सम्यक् एवं विद्वत्तापूर्ण अध्ययन उपस्थित किया गया है। परिशेष में दक्खिनी हिंदी के गद्य-पद्य साहित्य के नमूने भी दे दिये गये हैं जो उपयोगी होने के साथ-साथ रोचक भी हैं।

आशा है कि यह पुस्तक दक्खिनी हिंदी का महत्व समझने और तत्संबंधी अध्ययन का वैज्ञानिक एवं विस्तृत स्वरूप दिखाने में विशेष रूप से उपयोगी सिद्ध होगी।

धीरेन्द्र वर्मा

१६ दिसम्बर, १९५१ ई०

प्रस्तावना

कई साल हुए जब मेरा ध्यान दक्खिनी साहित्य पर गया था। जितना ही पढ़ा और समझा उतना ही अच्छा लगा। मित्रों से बातचीत में कहा कि इसको देवनागरी में लाकर हिन्दी संसार के सामने रखना चाहिए। मसल है "राह बतावे सो आगे चले।" डा० धीरेन्द्र वर्मा ने हिन्दुस्तानी एकेडेमी को प्रेरित किया कि मुझे दक्खिनी हिन्दी पर कुछ कहने को आमन्त्रित करे। परिणाम-स्वरूप ये व्याख्यान हैं।

दक्खिनी के अध्ययन के लिए मौ० नसीरुद्दीन हाशिमी की पुस्तक *दकिन में उर्दू* परिचय पाने के लिए बड़ी अच्छी है। डा० सैयद मुहीउद्दीन क़ादिरी 'ज़ोर' के *उर्दू शहपारे*, *तज़किरह उर्दू मख़तूतात* और *हिन्दुस्तानी लिस्सानियात* बड़े काम के ग्रन्थ हैं। मौलवी डा० अब्दुलहक़ ने दक्खिनी की प्रशंसनीय और अथक सेवा की है। मैंने इन ग्रन्थकारों की रचनाओं से बहुत लाभ उठाया है और जहाँ-तहाँ इनके उद्धरण दिए हैं। इनका उपकार मानता हूँ।

स्थानीय विद्वानों में से डा० अब्दुल सत्तार सिद्दीक़ी ने मुझे आवश्यक परामर्श देकर कृतज्ञ किया है। मित्रवर डा० मुहम्मद हफ़ीज़ सैयद ने न केवल अपने *सुख-सहेला* के द्वारा बल्कि अन्य प्रकाशित और हस्तलिखित पुस्तकों को प्रदान कर मुझे इन व्याख्यानों को तैयार करने में बड़ी मदद दी। मैं उनका स्नेहपूर्ण उपकार हृदय से मानता हूँ।

यदि डा० धीरेन्द्र वर्मा का आग्रह न होता तो यह सामग्री कभी भी उपस्थित न हो पाती। इसी लिए ये व्याख्यान उन्हीं को समर्पित हैं।

हिन्दुस्तानी एकेडेमी के सहायक मन्त्री श्री रामचंद्र टंडन ने जिस धैर्य से मुझसे काम निकाल लिया उसकी प्रशंसा मेरा जी ही कर सकता है। वह मेरे अनेक धन्यवाद के पात्र हैं।

बाबूराम सक्सेना

विषय-सूची

ओ३म्

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते

तया मामद्य मेधयाऽग्ने

मेधाविनं कुरु।

१

प्रवेशक

हिन्दी शब्द का इस्तेमाल आज कई थोड़े बहुत विभिन्न अर्थों में किया जाता है। भाषा-विज्ञानी इस शब्द के अन्तर्गत, पंजाब के पूरबी प्रदेश में बोली जाने वाली बाँगड़ू से लेकर संयुक्त प्रान्त के पूरबी जिलों में बोली जाने वाली अवधी पर्यन्त सभी बोलियों को समझते हैं और फ़ारसी लिपि में लिखी गई उर्दू और देवनागरी में की खड़ी बोली को इसी हिन्दी की एक शाखा हिन्दुस्तानी के दो साहित्यिक रूप मानते हैं। इसी प्रयोग के अनुकूल उर्दू को हिन्दी ही के भीतर एक विशेष शैली की हिन्दी समझा गया है। लेकिन आजकल हिन्दी शब्द को अधिकतर संस्कृत शब्दावली पर निर्भर एक विशेष शैली के लिए ही काम में लाया जाता है। जिस भाषा का विवेचन करने हम खड़े हुए हैं, उसके तीन नाम मिले हैं--हिन्दवी, हिन्दी और दक्खिनी। आरम्भ में ही इतना बता देना जरूरी है कि संस्कृत-निष्ठ शैली से यह भाषा कई बातों में अलग है।

दक्खिनी हिन्दी नाम

हिन्दी और हिन्दुई या हिन्दवी शब्द एक ही अर्थ को जतलाते हैं, यानी हिन्द या हिन्दु की भाषा। हिन्दी की नस्बित

हिन्दवी शब्द पुराना है। शुरू में इसका इस्तेमाल फ़ारसी से भेद दिखलाने के लिए इस देश भारत (हिन्द) की भाषा के ही लिए किया गया है। मुल्ला वजही अपने गद्य के ग्रन्थ *सबरस* (१६३५ ई०) में क़िस्सा आरंभ करते समय लिखते हैं—

"हिन्दोस्तान में *हिन्दी* ज़बान सों इस लताफ़त इस छन्दां सों नज़्म और नस्र मिला कर गुलाकर यों नैं बोल्या"। *(पृ० ११)*

शेख़ अशरफ़ अपने ग्रन्थ *नौसरहार* (१५०३ ई०) में कहते हैं—

"बाख़ां कैता *हिन्दवी* में। क़िस्सए मक़तल शाह हुसें॥
नज़्म लिखी सब मौज़ूं आन। यों मैं *हिन्दवी* कर आसान॥
यक यक बोल य मौज़ूं आन। तक़रीर *हिन्दवी* सब बखान॥

(*मख़तूतात पृ० १८*)

शाह बुर्हानुद्दीन जानम बीजापुरी *इर्शादनामह* (१५८२ ई०) में हिन्दी बतलाते हैं—

यह सब बोलूँ *हिन्दी* बोल। पुन तूँ एन्हों सेती घोल॥
ऐब न राखें हिन्दी बोल। मानी तो चख दीखें खोल॥
हिन्दी बोलों किया बखान। जेकर परसाद था मुँझ ग्यान॥

(*मख़तूतात पृ० १६*)

जुनूनी मौ० रूम के *मोजज़ह* का अनुवाद करते समय (१६६० ई० में) साफ़ साफ़ लिखते हैं—

मैं इसको दर *हिन्दी* ज़बाँ इस वास्ते कहने लगा।
जो फ़ारसी समझे नहीं समझे इसे ख़ुश दिल होकर॥

(*मख़तूतात पृ० २२*)

बुलबुल अपनी मसनवी *चंदरबदन व महयार* में कहते हैं—

हुआ बुलबुल उपर इस ते ज़रूरत।
दिखाना फ़र्स की *हिन्दी* में सूरत॥

ग्रन्थों के ऐसे नाम जैसे *फ़िक़्हए हिन्दी* और *हिदायते हिन्दी* या सुल्तान मुहम्मद क़ुली क़ुतुबशाह की एक नायिका का नाम 'हिन्दी छोरी' इस बात की गवाही देते हैं कि 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग 'भारत की' के अर्थ में किया गया है। ग्रन्थकारों के कहने से साफ़ साफ़ जान पड़ता है कि उनका ध्येय था कि जो बातें फ़ारसी भाषा में मौजूद हैं उन्हें इस देश की वाणी द्वारा प्रकट करें।

इसी हिन्दी हिन्दवी को कुछ कवियों ने दक्खिनी नाम भी दिया है। वजही अपनी मसनवी *कुतुब मुश्तरी* में लिखते हैं--

दखिन में जो *दखिनी* मिठी बात का।
अदा नैं किया कोइ इस भात का॥ (पृ० १६)

इब्न निशाती *फूलबन* (१६४६ ई०) में कहते हैं—

इसे हर कस के तईं समझा कों तूँ बोल।
दखिनी के बातां सारयां को खोल॥

रुस्तमी भी *ख़ाविर नामह* में लिखते हैं--

किया तर्जुमा *दखिनि* हौर दिलपज़ीर।
बोल्या मोजज़ह यू कमालख़ां दबीर॥

इस तरह इस भाषा के तीन ही नाम मिलते हैं, हिन्दवी हिन्दी और दक्खिनी।

दक्खिनी नाम क्यों पड़ा?

आगे चलकर इस भाषा के ब्योरेवार विवेचन से मालूम होगा कि इस भाषा का किसी भी दक्खिनी आर्य या द्राविड़ी भाषा से कोई सम्बन्ध नहीं है; बल्कि परिवार-सम्बन्ध से यह उत्तर भारत की आर्यभाषाओं में की है। तब फिर इसे दक्खिनी क्यों कहा गया? इसका जवाब उस समय के इतिहास से मिलता है। दिल्ली के सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी के सैनिकों

ने १२९७ ई० में गुजरात जीता, और उसी के सेनापति मलिक काफ़ूर ने १३०४ ई० में महाराष्ट्र पर, १३०७ ई० में आन्ध्र पर और १३०८ में कर्नाटक पर विजय पाई। ये सभी राज्य दिल्ली के सूबे समझे जाने लगे। यह क़ब्ज़ा कुछ ही साल क़ायम रह सका। दक्खिन को इतना महत्त्व दिया गया कि मुहम्मद तुग़लक ने दौलताबाद को राजधानी बनाया (१३२७ ई०)। फ़ीरोज़ तुग़लक के राज्यकाल में दक्खिन स्वतन्त्र हो गया, और हसन गंगो बहमनी ने (१३४७ ई० में) गुलबर्गा में बहमनी राज्य स्थापित कर दिया। गुजरात भी स्वतन्त्र हो गया। सन् १३३६ ई० में ही विजयनगर के हिन्दू राज्य की नींव पड़ गई थी और उसमें दक्खिन का बहुत सा भाग शामिल हो गया था। फ़ीरोज़ शाह के मरते समय (१३८८ में) दक्खिन पूरा का पूरा दिल्ली के क़ब्ज़े से निकल गया था और उसका कोई राजनीतिक सम्बन्ध न रह गया था। बहमनी राज्य के छिन्न-भिन्न होने पर, बीजापुर में आदिलशाही (१४९० ई०), गोलकुंडा में क़ुतुबशाही (१५१२ ई०), बीदर में बरीदशाही (१४८७ ई०), और बरार में इमादशाही तथा अहमदनगर में निज़ामशाही (१४९० ई०) सल्तनतें बनीं और बहुधा लड़ती झगड़ती रहीं, पर उत्तर भारत के राजनीतिक पंजे से अर्से तक बची रहीं।

ये राज्य दक्खिनी हिन्दी के कवियों और ग्रन्थकारों को बराबर आश्रय देते रहे और इनकी संरक्षा में १५वीं, १६वीं और १७ वीं ई० सदियों में अच्छे साहित्य का निर्माण हुआ। जब १७ वीं सदी के मध्य में औरंगज़ेब ने दक्खिन की ओर जाकर इन सल्तनतों को मटियामेट कर दिया तब कुछ काल तक दक्खिनी के साहित्यकार निराश्रय होकर तितर-बितर हो गए, पर रचनाएँ

होती रहीं। औरंगज़ेब ने १६५७ ई० में औरंगाबाद को अपना केन्द्र बनाया और कुछ कवि यहाँ आगए। औरंगज़ेब ने नसरती आदि एक दो को आदर सम्मान भी दिया। औरंगज़ेब के देहान्त (१७०७ ई०) के बाद दिल्ली के मुग़ल परिवार की अवनति होने लगी। वर्तमान निज़ाम राज्य के आदि पुरुष निज़ामुल्मुल्क आसफ़-जाह १७२३-४ ई० में स्थायीरूप से दक्खिन के सूबेदार होकर आ गए। तब से आज तक निज़ामराज्य हैदराबाद में क़ायम चला आ रहा है। इस ख़ानदान के नरेशों ने प्राचीन दक्खिनी सुल्तानों की तरह बराबर दक्खिनी भाषा के साहित्यकारों को आश्रय और प्रोत्साहन दिया है।

हिन्दी या हिन्दवी का दक्खिनी कहलाना केवल इन दक्खिनी राज्यों के सम्बन्ध के कारण है। उन दिनों भी आज की तरह इस प्रदेश में आर्य भाषाओं में की मराठी और द्राविड़ भाषाओं में की तेलगू, तामिल और कन्नड़ बोली जाती थीं।

इतिहास से हमें पता चलता है कि मराठी भाषा में साहित्य का निर्माण पहले पहल यादववंशी मराठा क्षत्रिय राजाओं की

मराठी साहित्य

संरक्षा में हुआ। इस वंश के प्रथम नरेश ने पहले नासिक ज़िले के सिमनार नाम के स्थान पर और बाद को देवगिरि में अपनी राजधानी क़ायम की। इस वंश ने क़रीब दो सौ साल तक राज किया। यहाँ मराठी को दर्बारी (राज) भाषा माना गया और सरस्वती के पुजारियों को सम्मान मिला। इन्हीं के समय में महाराष्ट्र में दो धार्मिक सम्प्रदाय स्थापित हुए—महानुभाव पन्थ और वारकरी पन्थ। प्रथम के देवता कृष्ण और दत्तात्रेय थे, द्वितीय के हरि और विट्ठल। दोनों में सभी जातियों और मतों के जन

भरती हुए। महानुभाव पन्थ के प्रवर्तक चक्रधर थे, इन्होंने १२६३ से १२७१ ई० तक अपने मत का प्रचार किया और फिर बदरिकाश्रम चले गए। इनके वचनों का संग्रह इनके शिष्य महीन्द्रभट ने किया। यही वचन *आचार्यसूत्र* और *सिद्धान्तसूत्रपाठ* नाम से, इस सम्प्रदाय के मूल ग्रंथ हैं। महिमभट ने अपने गुरु की जीवनी भी *लीलाचरित* नाम की लिखी। ये तीनों पुस्तकें गद्य में हैं। चक्रधर के दूसरे चेले भास्कराचार्य ने *शिशुपालवध* नामक काव्य रचा। यादववंशी राजा इसी महानुभाव पन्थ के अनुयायी थे। देवगिरि में (१३२७ ई० में) मुस्लिम राज्य क़ायम हो जाने पर भी महानुभाव पन्थ थोड़े दिन चलता रहा। यह मूर्ति-पूजा के विरुद्ध था, इसलिए इसको मुसल्मानों द्वारा उतनी हानि न पहुँचा जितनी अन्य मतों को। पर यही मुस्लिम संरक्षा इस सम्प्रदाय के लिए घातक सिद्ध हुई क्योंकि हिन्दू जनता इसी कारण उसे संदेह की दृष्टि से देखने लगी। इस सम्प्रदाय के खतम हो जाने का दूसरा कारण यह भी दिया जाता है कि इसके संचालकों ने अपने ग्रंथ ऐसी गुप्त लिपि में लिखे जिसका परिचय केवल विशेष दीक्षा-प्राप्त शिष्यों को था। कुछ भी हो, महानुभाव पन्थ के करीब बारह ग्रंथ ऐसे मिले हैं जो वार्करी पन्थ के आदि ग्रंथों से पहले के हैं।

महानुभाव पन्थ की निस्बत वार्करी पन्थ अधिक लोकप्रिय साबित हुआ। इसके सन्तकवि मराठी भाषा के आदि कवि समझे जाते हैं। ज्ञानेश्वर को मराठी का आदिम साहित्यकार कहा जाता है। इन्होंने *भावार्थदीपिका* नाम की भगवद्गीता की व्याख्या १२९० ई० में बनाई। इसी को *ज्ञानेश्वरी* भी कहते हैं। इसके अलावा *अमृतानुभव* नाम का एक दर्शन-ग्रंथ और कुछ स्तोत्र और भजन भी इनकी कृति हैं। इतना काम इन्होंने २२ साल की अवस्था में कर

लिया और संसार छोड़ गए। मुकुन्दराज के ग्रंथ *विवेकसिन्धु* और *परमामृत* ज्ञानेश्वर के पहले के हैं। शैली आदि आन्तरिक परीक्षा से ये ग्रंथ ज्ञानेश्वरी के बाद के जंचते हैं पर संभावना यही है कि इनके वर्तमान संस्करण ही ज्ञानेश्वरी के बाद के हैं, मूल संस्करण पूर्वकालीन रहे होंगे। मुकुन्दराज के ये ग्रंथ ज्ञानेश्वर की कृतियों के बराबर लोकप्रिय न हो पाए। ज्ञानेश्वर के सम-कालीन ही, पर उनसे कुछ छोटे नामदेव थे। यह जाति के दर्जी (शिल्पी) थे। इनका देहान्त १३५० ई० में हुआ। कोई दो सौ साल बाद (१५४८ ई० में) एकनाथ का जन्म हुआ। इनका ग्रंथ *एकनाथी भागवत* बड़े महत्त्व का है और ज्ञानेश्वरी के बाद लोक-प्रियता में इसी का नम्बर आता है। एकनाथ ने रामायण और महाभारत के आधार पर कुछ काव्य भी रचे। इस प्रकार दक्खिनी हिन्दी में किसी रचना के बनने के बहुत पहले मराठी में अच्छा खासा साहित्य मौजूद था।

द्राविड़ साहित्य

द्राविड़ साहित्य तो और भी पुराना है। *तिरुविलइयाडल पुराण* (१२वीं सदी ई०) और *तेवारं* (७वीं सदी ई०) नाम के ग्रंथों में सुरक्षित अनुश्रुति के अनुसार पांड्य देश में द्राविड़ संग होते थे। तीन संगों का अस्तित्व बताया जाता है। प्रथम संगं का स्थान मदुरा था और स्थितिकाल ४४०० वर्ष। इसमें अगस्त्य, शिव आदि सदस्यों की संख्या ५४९ और ग्रंथकारों की ४४४९ थी। द्वितीय संगं का स्थान कवाटपुरं था, इस नगर का उल्लेख वाल्मीकि की रामायण में भी मिलता है। इस संगं में ५९ सदस्य थे और ३७०० कवि और ग्रंथकार। इसका स्थितिकाल ३७०० वर्ष का था। तीसरे संगं में ४९ सदस्य और

४४६ ग्रंथकार थे। इसका स्थितिकाल १८५० साल था और स्थान उत्तर मदुरा (वर्तमान मदुरा) था।

ऊपर दी गई संख्याओं में स्पष्ट ही कृत्रिमता और अत्युक्ति है और पुराण के रचियिता की कपोल कल्पना जान पड़ती है। प्रथम संगं का कोई ग्रन्थ नहीं मिलता। उपलब्ध परिपाडल बहुत करके तीसरे संगं का है। तीसरे संग के कवि नक्कीरर ई० दूसरी सदी के समझे जाते हैं। कपिलर के बारे में विद्वानों का मत है कि यह ई० पहली सदी के उत्तरार्ध और दूसरी के पूर्वार्ध में हुए। *तेवारं* के रचयिता अप्पर स्वामिगळ ने लिखा है कि दारुमि नाम के एक कवि ने संगं से सम्मान और पुरस्कार पाया था।

द्राविड़ शब्द संगं संस्कृत के संघ शब्द का रूपान्तर है। उत्तर भारत में बौद्ध और जैन संघों का अस्तित्व बहुत पहले से था। दक्खिन में वज्रनन्दि नाम के एक जैन साधु ने ४७० ई० में एक द्राविड़ संघ की स्थापना की। यह धार्मिक था। सम्भव है कि साहित्यिक संगों की कल्पना को इस धार्मिक संघ से बल मिला हो। संगों के अस्तित्व में अविश्वास रख कर भी इतना मानना पड़ता है कि तामिल भाषा का साहित्य ईसा की प्रारम्भिक सदियों तक का मिलता है। प्राचीन ग्रंथों की भाषा बाद की तामिल से बहुत पुरानी और भिन्न है। अनुमान है कि तामिल का प्राचीन युग ५ वीं सदी ई० में समाप्त हो गया और छठी सदी से नवयुग शुरू हुआ। तामिल में केवल धार्मिक ग्रन्थ ही नहीं हैं। *मणिमेखलइ* और *कुंडलकेशि* नाम के दो महाकाव्य भी हैं जो प्राचीनता में संगं काल के माने जाते हैं।

कन्नड़ भाषा का जो सब से पुराना ग्रन्थ मिलता है वह है नृपतुङ्ग (अमोघवर्ष) का बनाया हुआ अलंकार-ग्रन्थ *कविराजमार्ग*।

राष्ट्र कूट नरेश नृपतुङ्ग का समय ई० ८१५-८७७ निर्धारित किया गया है। इन्होंने अपने ग्रन्थ में विमल, उदय, नागार्जुन, जयबन्धु और दुर्विनीत नाम के सर्वोत्तम गद्य लेखकों और श्रीविजय, कवीश्वर, पंडित, चन्द्र और लोकपाल आदि सर्वोत्तम कवियों का उल्लेख किया है। *अवन्तिसुन्दरीकथा* के अनुसार भारवि, दुर्विनीत के दर्बार में गए थे और इस लिये दोनों समकालीन माने जाते हैं। दुर्विनीत गांग नरेश थे और चालुक्य वंश के प्रथम नरपति विष्णुवर्धन और कांची के पल्लव नरपति विष्णुवर्धन के सहयोगी। इस तरह दुर्विनीत का स्थितिकाल ६०० ई० के क़रीब पड़ता है। कन्नड़ में ही *तत्त्वार्थ महाशास्त्र* की एक टीका चूडामणि (तुम्बुलूराचार्य कृत) है। यह सातवीं सदी की समझी जाती है। कन्नड़ में शिलालेख पाँचवीं सदी ई० तक के पुराने मिलते हैं।

तेलगू भाषा का सब से पुराना ग्रन्थ *भारत* है। इसके रचयिता, पूरबी चालुक्य नरेश राजराज के राजकवि नान्नय्य भट्ट थे। राजराज का समय १०२३--६३ ई० है। नान्नय्य भट्ट तेलगू भाषा के प्रथम व्याकरण-कार भी हैं। किसी भाषा में व्याकरण का बनना इस बात का द्योतक है कि उस भाषा में थोड़ा बहुत साहित्य रचा जा चुका है। शिला-लेखों की कवितामयी भाषा से भी इस बात का प्रमाण मिलता है। इनमें गुणगविजयादित्य (८४४-८८ ई०) के लेख उल्लेख-योग्य हैं।

केरल की भाषा १० वीं सदी ई० तक शुद्ध तामिल (शेन्द्-मिळ) रही इस कारण *मलयालं* का साहित्य बहुत पुराना नहीं मिलता। ट्रावंकोर के नरेश श्रीराम का बनाया हुआ *रामचरितं* मलयालं का प्रथम ग्रन्थ समझा जाता है। श्रीराम १३ वीं सदी ई० में हुए।

हमने आपको मराठी, तामिल, कन्नड़ आदि भाषाओं के प्राचीन साहित्य का इस कारण परिचय कराया कि आप लोगों को समझा सकें कि भारतवर्ष के जिस प्रदेश में यह हिन्दवी साहित्य पनपा वहाँ अच्छा खासा साहित्य विविध भाषाओं में पहले से मौजूद था। देवगिरि में मुस्लिम राज १३२७ ई० में क़ायम हो चुका था, पर साहित्य का पहला ग्रन्थ ख्वाजाबन्दा नवाज़ गेसू दराज़ मुहम्मद हुसेनी का *मीराजुल आशिक़ीन* इसके प्रायः सौ साल बाद बना। इसके मुक़ाबिले में मराठी भाषा में महिमभट और ज्ञानेश्वर के ग्रन्थ १३०० ई० के पहले रचे जा चुके थे, और तामिल, कन्नड़, तेलगू के ग्रन्थ तो कई सौ साल पहले।

दक्खिन में यह नया साहित्य बहमनी, आदिलशाही, क़ुतुबशाही आदि सुल्तानों और उनके दर्बारियों के दिमाग़ की उपज थी। इन सुल्तानों में से कइयों ने हिन्दू राजघरानों से कन्याएँ लेकर अपने महल बसाए और कुछ हिन्दू विद्वानों को राज्य और शासन का भी थोड़ा बहुत भार सौंपा। पर इस हिंदवी भाषा के साहित्य के निर्माण में उस प्रदेश की जनता का कोई सहयोग नहीं दिखलाई पड़ता। सम्भव है कि इन नये आये हुए शासकों के सम्पर्क से मराठी, तेलगू, तामिल आदि भाषा भाषियों ने जहाँ अरबी और विशेषकर फ़ारसी साहित्य को देखा और पढ़ा हो, वहाँ हिन्दवी के साहित्य का भी अवलोकन किया हो और मसनवियों आदि के क़िस्से कहानियों में रुचि दिखलाई हो। लेकिन कलाकार इस साहित्य का कोई हिन्दू नहीं हुआ। १७ वीं सदी तक जितने ग्रन्थ दक्खिनी हिन्दी के मिलते हैं वे सब मुसल्मान साहित्यिकों की कृतियाँ हैं।

आगे चलकर ब्योरेवार विवेचन से मालूम होगा कि हिन्दवी

ज़बान पंजाब के पूरबी हिस्से और दिल्ली मेरठ के आस पास की भाषा थी। इस प्रदेश के निवासी भी

उत्तर भारत का साहित्य

साहित्य-विहीन न थे। पृथ्वीराज की हार (११९३ ई०) के बाद स्वदेशी संस्कृति बिखर सी गयी थी। केन्द्र टूट चुका था। निःसहाय मध्यमवर्ग को मथुरा वृन्दावन की शरण लेनी पड़ी। राजपूतों ने राजपूताने में घर बसाया। कलाकार भी तितर बितर हो गए थे। इस समय में साहित्यिक भाषाएँ तीन थीं—संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश। तीनों में रचनाएँ जारी थीं। दर्शन और साहित्यशास्त्र आदि के उच्चकोटि के ग्रन्थ संस्कृत में अब भी लिखे जाते थे। जयचन्द के राजकवि श्री हर्ष का *नैषधीयचरित* इस देश के महाकाव्य-साहित्य में अपना सानी नहीं रखता। उसकी नाज़ुक ख़याली और अतिशयोक्ति उर्दू के बढ़िया से बढ़िया काव्य से टक्कर ले सकती हैं। श्रीहर्ष का ही, दर्शनशास्त्र का उत्तम ग्रन्थ *खंडनखंडखाद्य* आज भी बड़े बड़े दार्शनिकों के दाँत खट्टे करने में समर्थ है। कन्नौज के नरेश चंडपाल और महेन्द्रपाल के दर्बार का कवि राजशेखर, १० वीं सदी के आरम्भ में ही, उत्तम उत्तम संस्कृत ग्रन्थों के अलावा प्राकृत भाषा में *कर्पूरमंजरी* सा अपूर्व सट्टक रच चुका था। साथ ही साथ जैन कलाकार अपभ्रंश में चरित पर चरित रचते चले जा रहे थे।

इस देश के सम्राटों में अन्तिम थे प्रतापी महाराज हर्षवर्धन (६०६-६४८ ई०)। उनके समय तक जो-जो आक्रमणकारी बाहर से आए वे या तो स्वयं हार कर वापस गए या जीत गए तो ऐसे घुलमिल गए कि इसी देश के होकर स्वदेशी समाज के अंग बन गए। हमारे चातुर्वर्ण्य में आर्य, द्राविड़, शक, हूण आदि

कितनी ही जातियाँ शामिल हैं। हर्षवर्धन के समय में ही राज-नीतिक प्रतिस्पर्धा का कड़ुआ फल दिखाई पड़ने लगा था। जिस भावना से स्कन्दगुप्त को देशी राजाओं ने हूणों को बाहर भगा देने में मदद पहुँचाई थी उसका ह्रास हो गया था। भारत इस समय राजनीतिक टुकड़ियों में ही नहीं समाज और संस्कृति सम्बन्धी टुकड़ियों में बँट गया था। ऐसी परिस्थिति में भारत कुछ ही दिनों ईरानी, अरबी और तुर्की हमले वालों से टक्कर ल सका। सिन्ध पर किया गया अरबों का हमला (७१२ ई०) चिरस्थायी न रह सका। महमूद गज़नवी भी भारत के मर्मस्थल पर क़ब्ज़ा न कर पाया। पर मुहम्मद गोरी द्वारा दिल्ली में परा-धीन किए जाने पर, भारतीय राजश्री के दिन चल दिए। नरेशों ने हिम्मत ही नहीं हारी, पृथ्वीराज की मदद तो दूर, उसकी हार को अपनी जीत समझे। पर विदेशी कब किसका हुआ है? अरब और ईरान की जनता में उस समय वही आग भड़काई गई थी जो आज जर्मनी और जापान के नेताओं ने अपने देशों में भड़काई है। नतीजा यह हुआ कि जहाँ हमला करनेवाला जान की बाज़ी खेल कर लड़ रहा था वहाँ उस समय का भारतीय एकत्व की भावना को भूला हुआ था। वह भगवान कृष्ण के मार्मिक उपदेश

> हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
> तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥

की याद खो चुका था, वेद के आदेश

> संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।

अथवा

> समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः।

मन्त्र की कौन बात कहे ?

वर्तमान भारतीय आर्य भाषाओं का आरंभ मोटे ढंग से क़रीब १००० ई० के बाद से माना जाता है और उससे पहले अपभ्रंश का। इस समय संस्कृत और शौरसेनी महाराष्ट्री आदि प्राकृतें पण्डितसभा की ही चीजें रह गई थीं। साधारण जनता न उन्हें समझती थीं न बोलती थी।

भाषाओं की स्थिति

अपभ्रंश ही बोलचाल के सबसे निकट की भाषा थी। काव्य में अपभ्रंश के इस्तेमाल का पहला उल्लेख हमें दण्डी की काव्यादर्श नाम की पुस्तक में मिलता है--

आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंशतया स्मृता :।

ऐसा जान पड़ता है कि आचार्य दण्डी के समय (७वीं सदी ई०) में आभीर आदि इस देश में बहुत पुराने नहीं पड़े थे और उस समय की बोल चाल की भाषा अपभ्रंश बोलते थे। काव्य में उनके मुख से जो भाषा बुलवाई जाती होगी वह संस्कृत या प्राकृत न होकर अपभ्रंश ही रहती होगी। अपभ्रंश में साहित्य-निर्माण का उल्लेख बाण के हर्षचरित में भी मिलता है। अपभ्रंश में साहित्य का सृजन १६वीं सदी ई० तक चलता रहा पर १,००० ई० के क़रीब यह उच्चशिखर पर रहा होगा। इस समय के आस पास की बीसियों रचनाएँ मिली हैं। अपभ्रंश उत्तर भारत में सिन्ध से लेकर बंगाल तक और दक्खिन में गुजरात और महाराष्ट्र तक फैले हुए थे। इनका जो रूप सर्वमान्य हुआ वह उसी प्रदेश का था जो आज मोटे तौर से खड़ी बोली का क्षेत्र है। भाषा-विज्ञानियों की धारणा है कि अपभ्रंश के इस साहित्यिक रूप के साथ, उसका बोलचाल का भी कोई रूप

भारत में सब कहीं प्रचलित था और हर राज्य में ऐसे लोग थे जो इस को अन्तर्राज्य या अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार के लिए काम में लाते थे। स्थिति कुछ आजकल की खड़ी बोली हिन्दी की स्थिति सी रही होगी। संस्कृत भी अन्तर्राज्य व्यहार के लिए मौजूद थी पर उसका इस्तेमाल अपेक्षा से सीमित था। वह पंडित समाज की चीज रह गई थी। इस बोलचाल के अपभ्रंश में भी अलग अलग जनपदों के अनुसार थोड़े बहुत भिन्न रूप रहे होंगे। आज भी जो हिन्दी खड़ी बोली का रूप हमें पञ्जाबी, सिन्धी, तेलगू आदि अलग-अलग भाषाओं के क्षेत्र में बोलचाल में सुनाई पड़ता है, वह एक नहीं और स्टैंडर्ड खड़ी बोली से जुदा है। जब आज रेल डाक आदि परस्पर सम्पर्क और आने जाने के साधनों की बहुतायत के समय में ऐसी हालत है तो ११ वीं सदी में इससे कैसी भिन्न समष्टि-बोधक स्थिति रही होगी उसका अन्दाज़ लगाया जा सकता है। अरब के मशहूर यात्री अल्बेरूनी ने ११वीं सदी के आरंभ काल (१०२५ ई०) की स्थिति का बयान करते हुए लिखा है कि उस समय भारत में भाषा की दो शाखाएँ थीं—एक साहित्य की और दूसरी बोलचाल की। इस बोलचाल वाली को वह उपेक्षित और जनसाधारण की मानता है। यह बोलचाल का अपभ्रंश ही रहा होगा। सवाल उठाया जा सकता है कि उस समय भारत में अलग अलग स्वतन्त्र राज्य थे और अलग अलग जनपदीय बोलियाँ, इनमें आपस के लेन-देन या व्यवहार की कल्पना करना युक्तिसंगत नहीं। इस सवाल का जवाब यही है कि इस देश में भिन्नता के होने पर भी संस्कृति-सम्बन्धी एकता पुराने समय से चली आ रही थी। इसका इतिहास प्रियदर्शी राजा अशोक से लेकर लगातार मिलता है।

एकता में बाँधने वाले केवल मौर्य, गुप्त आदि बड़े बड़े साम्राज्य ही न थे, थे इनके अलावा देश के कोने कोने में फैले हुए हिन्दू, बौद्ध और जैन तीर्थस्थान। चारों कोनों पर शंकराचार्य की पीठों और कुम्भ आदि देशव्यापी मेलों की योजना भी समष्टि और एकता की भावना को जाग्रत और स्थिर रखने में काफ़ी मदद पहुँचाती रही है।

सफल विदेशी आक्रमण को अन्दर से खोखला करने के उपाय भारतीय समाज ने सोचे थे। मुस्लिम धर्म को राजकीय बल मिल हुआ था, उसके सहारे मुस्लिम सन्त और दर्वेश अपने धर्म का प्रचार कर रहे थे और फलस्वरूप भारतीय समाज के कुछ लोग अपना धर्म बदल रहे थे। स्वदेशी जन को स्वदेशी धर्म और संस्कृति में क़ायम रखने के लिए भारतीय नेताओं को उस समय नए उपायों का अवलम्बन करना पड़ा। रीति रिवाज के नियम कड़े कर दिए गए। अन्दर ही अन्दर विदेशी के बहिष्कार की भावना को उत्तेजना दी गई। गोरखपन्थी, सहजिया आदि साधुओं के समूह के समूह अपने अपने मत का प्रचार करने के लिए एक छोर से दूसरे छोर तक फिर रहे थे। इस सर्वंकष प्रचार के लिए वर्तमान भाषाओं का सहारा लिया गया और अन्तर्जनपद प्रचार के लिए बोल चाल के अपभ्रंश का। यह प्रचार मुख्यरूप से ज़बानी ही किया गया।

उत्तर भारत की इस बोलचाल की भाषा में साहित्य का सृजन पहले पहल विदेशियों ने किया। यह बात स्वाभाविक थी। इस समय देशी कलाकार अपनी प्रचलित साहित्यक भाषाओं—संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश—में रचनाएँ कर रहे थे। ये ज़बानें आए हुए विदेशियों के लिए मुश्किल ही नहीं, बेकार भी थीं।

अपनी मातृ-भाषा फ़ारसी, तुर्की के अलावा यदि उन्हें किसी भाषा से सरोकार था तो साधारण जनता की बोल-चाल की भाषा से जिसमें उन्हें रोज़ाना व्यवहार करना था। उन्हें इस देश में अपने साहित्य और संस्कृति का भी प्रचार करना था। यह सुगमता से बोल-चाल की ही ज़बान में हो सकता था। इस प्रचार कार्य में मुसलमान सन्तों और दर्वेशों का ही मुख्य हाथ था। इनके घरों पर बहुधा और नियमरूप से फ़ारसी बोली जाती थी। सुल्तानी ख़ानदानों में फ़ारसी का ही दौर दौरा था। पर भारतीय जन के साथ व्यवहार करने में इस प्रदेश की भाषा शौरसेन अपभ्रंश की उत्तराधिकारिणी खड़ी बोली का सहारा लिया गया। डा० अब्दुल हक़ ने अपनी किताब "*उर्दू की इब्ति-दाई नशो व नुमा में सूफ़ियाय कराम का काम*" में इस बात का उल्लेख किया है कि इन फ़क़ीरों और बुज़ुर्गों के घरों पर कभी कभी हिन्दी भाषा का भी प्रयोग किया जाता था। इन साधु संतों की मजलिसों में केवल विदेशी मुसलमान ही नहीं, भारतीय मुसल्मान और थोड़े बहुत हिन्दू भी शामिल होते होंगे। इन हिन्दु-स्तानियों के लिए इन बुज़ुर्गों को हिन्दी भाषा का प्रयोग करना पड़ता होगा, टूटे फूटे शब्दों में ही सही। आज भी गिर्जाघरों में जनपदी बोली या खड़ी के साथ अंगरेज़ी के शब्दों की झलक मिलती है। इसी तरह आज से सात आठ सौ साल पहले भी एक खिचड़ी बोली निकल पड़ी जिसका आश्रय सर्वांश में भारतीय था, केवल विदेशियों के मुँह से निकली हुई ज़बान में विदेशी शब्दों की संख्या कुछ न कुछ रहती थी। उस समय भी भारतीय जन खड़ी बोली में बहुत विदेशी शब्द न लाता होगा और जिन्हें लाता भी होगा उन्हें भारतीय जामा पहनाकर। धीरे-धीरे मुस्लिम

राज्य और संस्कृति के विस्तार के साथ साथ इस खड़ी बोली (हिन्दी) की भी व्यापकता बढ़ी। सूफ़ियों का बयान करते हुए डा० अब्दुल हक़ उसी पुस्तक में लिखते है—

"इन बुज़ुर्गों के घरों में भी हिन्दी बोलचाल का रवाज था और चूं कि यह इनके मुफ़ीदे मतलब था इसलिए वह अपनी तालीम व तक़लीन में भी इसी से काम लेते थे।"

ज़रा "इनके मुफ़ीदे मतलब" इन शब्दों पर ध्यान दीजिए। इनमें साफ़ इशारा धर्म प्रचार की ओर है। धर्म प्रचार के लिए जनता की बोली से बढ़कर कोई साधन नहीं हो सकता। इसी लिए महावीर स्वामी और गौतम बुद्ध ने संस्कृत (छन्दस्)का पल्ला न पकड़ कर प्राकृतें अपनाई। गोरख, कबीर, तुलसीदास ने जनपदी बोलियाँ लीं। ईसाई पादरियों ने भी विविध जनपदी बोलियों में इंजील के अनुवाद कराए और उनके द्वारा ईसाई मत का इस देश में प्रचार किया। इसी तरह इतिहास-पूर्व काल में अगस्त्य, परशुराम आदि आर्य संस्कृति के प्रचारकों ने दक्षिण में उस समय की बोल चाल की भाषाओं में प्रचार किया होगा।

जिस भाषा को मुसल्मान सूफ़ियों ने धर्म के प्रचार का साधन बनाया और जिसे मुस्लिम साहित्यकारों ने अपने सृजन की भाषा माना वह इस देश में पहले से मौजूद थी। उसे मुसल्मान कहीं बाहर से नहीं लाए। जिस समय इन्होंने उसे अपनाया, उस समय भी उसमें प्रचुर कथा-साहित्य और गीति-काव्य मौजूद रहा होगा जो आज मिलता नहीं, क्योंकि लिखा नहीं गया। पर वह परम्परा से जनपदी लोकभाषा में चला आ रहा है। सच तो यह है कि सभी बोलियों में वह मौजूद है।

हिन्दी का आदिकाल

मुस्लिम सन्तों और साहित्यकारों ने उस भाषा को इतना सहारा अवश्य दिया कि उसे अपने प्रचार का साधन बनाया। खेद है कि उस समय के ये विदेशी साहित्यकार भारतीय साहित्यिक भाषाओं और परम्पराओं से परिचित न थे और न उन्हें ज्ञान था यहाँ के अलंकारशास्त्र और छन्दशास्त्र का। नहीं तो वे भारतीय जनता के दिलों तक पहुँचने के लिए अपने ख़यालों को पूरे तौर से भारतीय जामा पहनाते। नतीजा यह हुआ कि उनके बनाए हुए ग्रंथ जनता में जगह न कर पाए। उनकी भाषा में ज़रूरत से ज़्यादा विदेशीपन का पुट था।

उत्तर भारत में हिन्दी के कवियों में सर्वप्रथम अमीरख़ुसरो समझे जाते हैं। प्रसिद्ध औलिया शेख़ निज़ामुद्दीन (१२३६-१३२४ ई०) के यह शिष्य थे। इनका जन्मस्थान ज़िला एटा और जन्मवर्ष १२५३ ई० बताया जाता है। देहान्त १३२५ ई० में हुआ। इन्होंने फ़ारसी में काफ़ी कविता की है पर हिन्दी में भी थोड़ा बहुत कहा है। इनकी जो कविता मिलती है उसकी भाषा विश्वसनीय नहीं। तब भी इतना कह सकते हैं कि इनकी हिन्दी बोलचाल की भाषा थी, जिसमें खड़ी के साथ ब्रज का भी थोड़ा पुट था। इन्होंने अपने पूर्ववर्ती कवि मसऊद का उल्लेख किया है जिसने भी प्रचुर फ़ारसी काव्य के अतिरिक्त कुछ हिन्दी में भी लिखा था। मुहम्मद औफ़ी ने अपने तज़करे (१२२८ ई०) में लिखा है कि मसऊद ने दो दीवान फ़ारसी में और एक हिन्दवी में लिखा था। मसऊद सुल्तान इब्राहीम के ज़माने में थे और दिल्ली के पराजय के समय ज़िन्दा थे, इसलिये उनका समय १२वीं ई० सदी माना जाता है। खेद है कि इस कवि का कोई भी हिन्दी काव्य, ग़लत या सही, नहीं मिलता।

डा० अब्दुल हक़ ने उक्त पुस्तक में शेखफ़रीदुद्दीन शकरगंजी (११७३-१२६५ ई०) का कुछ कलाम उद्धृत किया है। ये पद्य देखिये—

तन धोने से जो दिल होता पूक।
पेशरू असफ़िया के होते गूक॥
रीश सबलत से गर बड़े होते।
बोकड़वाँ से न कोइ बड़े होते॥
ख़ाक लाने से गर ख़ुदा पाएँ।
गाय बैलाँ भी वासलाँ होजाएँ॥
गोशा गीरी में गर ख़ुदा मिलता।
गोश चोथाँ कोई न वासिल था॥
इश्क़ का रमूज़ न्यारा है।
जुज़ मदद पीर के न चारा है॥

इन्हीं शेख़ के झूलना के ये दो शेर भी देखिये—

अली याद की करना हर घड़ी, यक तिल हुज़ूर सों टलना नईं।
उठ बैठ में याद सों शाद रहना, गवाहदार को छोड़के चलना नईं॥

शेख़ शरफ़ुद्दीन बू अली क़लन्दर जिनका देहान्त १३२३ ई० में हुआ, अमीर ख़ुसरो के समकालीन थे। इनका यह दोहा मशहूर है—

सजन सकारे जाँयगे और नैन मरेंगे रोय।
बिधना ऐसी रैन कर भोर कभी ना होय॥

इस तरह उत्तर भारत की खड़ी बोली में काव्य का निर्माण १२ वीं सदी ई० तक का प्राचीन मिलता है और दो चार नमूने १३ वीं सदी के मिलते भी हैं। खड़ी बोली में साहित्य के निर्माण की परम्परा उत्तर भारत में इसके बाद कई सदियों तक लुप्त

रही। तुलना की नज़र से खड़ी की अपेक्षा अवधी और ब्रज का साहित्य इससे काफ़ी बाद का है। अवधी के प्रथम सन्तकवि कबीर १५ वीं सदी में हुए। ब्रज में साहित्यनिर्माण १५ वीं सदी के अन्त में जब वल्लभाचार्य ब्रजमंडल में आकर रहने लगे तब से आरम्भ होता है। मैथिली में ज्योतिरीश्वर कविशेखराचार्य का वर्णरत्नाकर १४ वीं सदी के आरम्भ का है। डिंगल का पृथ्वी-राजरासो पृथ्वीराज के दरबारी चन्दकवि का बनाया हुआ कहा जाता है पर इस ग्रन्थ का वर्तमान उपलब्ध रूप उस समय का नहीं है, और १६ वीं सदी का हो सकता है।

हिन्दी के कुछ मान्य विद्वानों ने कभी कभी पुष्पदन्त आदि अपभ्रंश के कवियों को और *बौद्ध गान* ओ *दोहा* आदि के रचयिताओं को हिन्दी के आदि कवियों का पद दिया है। पर यह भ्रम है। उन ग्रन्थकारों की भाषा और हिन्दी में बड़ा अन्तर है। सचाई यह है कि हिन्दी खड़ी बोली के जो प्राचीन ग्रन्थ इस समय मिलते हैं वे विदेशियों की कृतियाँ हैं। इस बात को स्वीकार करने में कोई लज्जा की बात नहीं कि हमारी भारतीय बोली "हिन्दी" को नए आये हुए विदेशियों ने साहित्य का माध्यम बनाया। जब उन्होंने इसे अपनाया उस समय भारतीय परम्परा में ऊँचे दर्जे का साहित्य संस्कृत में रचा जा रहा था, पर काव्य, नाटक, कथा कहानी आदि प्राकृतों और अपभ्रंशों में लिखे जा रहे थे। भारतीय परम्परा के अनुकूल ही इस हिन्दी में भी लोक-गीत और लोक-कथाएँ रही होंगी जो मौखिक थीं और जिनका कोई लिखा निशान बाक़ी नहीं। विदेशियों की विद्याओं की भाषा यहाँ की संस्कृत के मुक़ाबिले की फ़ारसी थी और विदेशी परम्परा वाले बढ़िया मार्के की चीज़ें फ़ारसी में लिखते थे पर

जन-साधारण के समझने लायक़ सिद्धान्त और क़िस्से कहानियाँ हिन्दी में भी लिख देते थे। आरम्भ-काल की रचनाएँ अधिकतर फ़ारसी के ग्रन्थों के अनुवाद हैं। इसी लिये उनमें भाव विदेशी हैं। भाषा भारतीय है, पर जहाँ तहाँ अरबी फ़ारसी की शब्दावली की खपत सहित; लिपि फ़ारसी, छन्द भी फ़ारसी, कविता का रूप भी फ़ारसी—मसनवी, मर्सिया, क़िता आदि, न कि महाकाव्य, खण्डकाव्य, चरित आदि।

दक्खिन को प्रस्थान

खड़ी बोली के साहित्य की यह विदेशी परम्परा ईसा की चौदहवीं पंद्रहवीं सदी में गुजरात, महाराष्ट्र, विजयनगर आदि दक्खिनी प्रदेशों में मुसल्मानी फ़ौजों और सन्तों और दर्वेशों के साथ गई और ज्यों-ज्यों ये लोग वहाँ बसते गये त्यों त्यों वहाँ इसने भी घर कर लिया। फ़ौजों के जाने का विवरण ऊपर दिया जा चुका है और यह भी बताया जा चुका है कि किस तरह दक्खिन में ये मुसल्मानी सल्तनतें क़ायम हुईं। दौलताबाद में पूरी दिल्ली ला बसाने की मुहम्मद तुग़लक की सनक सब लोगों को मालूम है। सन्त लोग किस संख्या में पहुँचे इसका विवरण डा० अब्दुलहक़ के शब्दों में सुनिए—

"हज़रत बुर्हानुद्दीन ग़रीब अपने मुर्शिद कामिल हज़रत सुल्तानुल-औलिया ख्वाजा निज़ामुद्दीन के हुक्म से चार सौ बुज़ुर्गों के साथ दकिन की जानिब रवाना हुए और वहाँ पहुँच कर दौलताबाद (रौज़ा) में क़याम फ़र्माया।"

—मेराजुल आशिक़ीन की भूमिका

अचरज की बात यह है कि जहाँ उत्तरभारत में खड़ी बोली की इस परम्परा की रचना कई सदियों तक लुप्त रही, दक्खिन में

इन्हीं सदियों में वह खूब फूली फली। इसका एक ही कारण समझ में आता है और वह यह कि उत्तर भारत वालों का फ़ारस आदि से बराबर सम्पर्क जारी रहा। नए नए राजवंश आ आकर क़ब्ज़ा करते रहे और अपने अपने देशों से लाए हुए फ़ारसी के कवियों और ग्रंथकारों को आदर मान देते रहे। इस प्रकार उत्तर में फ़ारसी का प्रभुत्व क़ायम रहा और क़रीब १८वीं सदी के मध्य तक अडिग रहा। पर दक्खिनी रियासतों में यह विदेशी सिलसिला नाममात्र को रह गया। औरंगज़ेब ने जब दक्खिन जीत लिया तब आकर बड़ी तादाद में आना जाना फिर शुरू हुआ। इस लिए हिन्दी ने जो क़दम दक्खिन में जमाए उन्हें फ़ारसी हिला न सकी। बहुधा सुल्तानों ने फ़ारसी के साहित्यकारों को भी मान और पुरस्कार दिया पर हिन्दी को मिटा कर नहीं।

प्रसिद्ध इतिहासकार फ़रिश्ता ने लिखा है कि बहमनी राज्य के दफ़्तरों में हिन्दी ज़बान प्रचलित थी और सल्तनत ने उसे

हिन्दी राजभाषा

सरकारी ज़बान का पद दे रक्खा था। बहमनी राज्य के छिन्न-भिन्न हो जाने पर भी हिन्दी का वह पद उत्तराधिकारी रियासतों ने क़ायम रक्खा। दक्खिन में फ़ारसी की निस्बत हिन्दी का राजभाषा बनना दो कारणों से हुआ जान पड़ता है। इस प्रदेश में मराठी तेलगू आदि कई भारतीय भाषाएँ चल रही थीं। पर इनसे उत्तर भारत से आए हुए सिपाही और अमीर परिचित न थे। उन्हें ज्ञान था केवल हिन्दी का, और अल्पसंख्या को फ़ारसी का। बहुतेरे सिपाही फ़ारसी से भी अनभिज्ञ रहे होंगे। सब जगह थोड़ा बहुत प्रचलित अपभ्रंश उस प्रदेश में भी रहा होगा। उसके नाते जनता को भी हिन्दी

थोड़ी बहुत परिचित लगती होगी। इस लिए हिन्दी को ही अपनाना नीति-संगत समझा गया। दूसरे यादववंशी नरेशों ने एक देशी भाषा मराठी को राजभाषा कर रक्खा था। हिन्दी को उस भाषा की जगह बिठाने में परम्परा की भी थोड़ी बहुत रक्षा हो गई।

दक्खिनी के पहले ग्रंथकार ख्वाजा बन्दानवाज़ गेसूदराज़ मुहम्मद हुसेनी (१३१८-१४२२ ई०) हैं। इनके पिता सैयद यूसुफ़ (शाह राजू क़त्ताल) उस चार सौ के समूह में आए थे जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। दक्खिन आने के समय ख्वाजा की अवस्था चार पाँच साल की थी। माँ भी साथ आई थीं। अभी आप पन्द्रह साल के ही हुए थे कि पिता स्वर्ग सिधार गए। उनके देहान्त पर यह अपनी माँ के साथ दिल्ली लौट गए। १३९८ ई० में तैमूर लंग ने दिल्ली जीती और ऐसा ऊधम मचाया कि ख्वाजा मुहम्मद हुसेनी अस्सी साल की उम्र में भी बाल-बच्चों समेत दक्खिन की तरफ़ रवाना हुए और भेलसा, गवा-लियार, भाँडी और गुजरात के अन्य स्थानों से होते हुए दौलता-बाद पहुँचे, और सुल्तान फ़ीरोज़शाह बहमनी के निमन्त्रण पर गुलबर्गा चले गए और मरते दम तक वहीं रहे। आपकी कृतियाँ अधिकतर फ़ारसी में हैं पर तीन रिसाले, *मीराजुल आशक़ीन*, *हिदायत नामा* और *रिसाला सेहवारा*, दक्खिनी में हैं। इनमें से पहला डा० अब्दुलहक़ ने सम्पादित कर प्रकाशित किया है। यह उन्नीस पन्नों का अरबी फ़ारसी मिश्रित हिन्दी गद्य है। यह बात संभावना से बाहर नहीं कि ख्वाजा साहब ने मूल पुस्तक फ़ारसी में लिखी हो और वर्तमान ग्रंथ उसका अनुवाद हो। इसकी पुरानी से पुरानी प्रति सन् १५०० ई० की लिखी हुई मिली है।

दक्खिनी में साहित्य-निर्माण

इस लिए ख़्वाजा साहब की कृति के रूप में न सही, १५वीं सदी के गद्य के रूप में इसका मूल्य कम नहीं। ख़्वाजा साहब के पोते अब्दुल्ला हुसेनी के भी एक ग्रंथ *निशातुल इश्क़* का पता चला है जो शेख़ अब्दुल क़ादिर ह्लीलानी के फ़ारसी ग्रंथ का दक्खिनी में अनुवाद है। अब्दुल्ला द्वितीय अहमदशाह बहमनी (१४३४-१४५७ ई०) के ज़माने में मौजूद थे। बहमनी राज्य का सब से मशहूर ग्रंथकार और कवि निज़ामी था जो सुल्तान अहमदशाह तृतीय के शासनकाल (१४६०-६२ ई०) में मौजूद था। यह दक्खिनी का पहला कवि है। इसकी रचना *कदमराव व पदम* मसनवी है।

दक्खिनी साहित्य बीजापुर के आदिलशाही राज्य और गोलकुंडा के क़ुतुबशाही राज्य में ख़ूब चमका। दोनों राज्यों के सुल्तान न केवल कविरक्षक थे, बहुधा स्वयं अच्छे कवि थे। इनमें मुहम्मद क़ुली क़ुतुबशाह (१५८०-१६११ ई०) और सुल्तान इब्राहीम आदिलशाह विशेष उल्लेख करने के योग्य हैं।

क़ुतुबशाही राज्य में वजही, ग़वासी, इब्न निशाती, ग़ुलाम अली, सेवक आदि कई अच्छे साहित्यकार हुए। इसी तरह आदिलशाही में भी शाह मीरां जी, बुर्हानुद्दीन जानिम, मुक़ीमी, सनाती, रुस्तमी, नसरती आदि कई उच्च कोटि के कलाकार हुए। बहमनी सल्तनत के मिट जाने पर बीदर में बरीदशाही क़ायम हुई, यहाँ भी थोड़ा बहुत साहित्य रचा गया।

औरंगज़ेब की फ़ौजों ने १६८५-६ में आदिलशाही और क़ुतुबशाही सल्तनतों को ख़तम करके मुग़ल राज्य स्थापित किया था। इसमें भी कई अच्छे अच्छे कवि हुए जिनमें प्रमुख कवि वली औरंगाबादी हैं। इनके अलावा फ़ाईक़ी, बहरी, वजदी, वली वेलूरी और इशरती के भी नाम उल्लेख-योग्य हैं।

मुग़ल राज्य के ही सूबेदार आसफ़जाह १७२३ ई० में स्थायी रूप से दक्खिन के नवाब नियत हुए। अर्से तक यह आसफ़-जाही ख़ानदान मुग़ल राज्य के अधीन रहा और थोड़ा बहुत दिल्ली का शासन मानता रहा। बाद को स्वतन्त्र हो गया और आज तक क़ायम है। वली औरंगाबादी के दिल्ली की यात्रा करके लौटने के बाद जहाँ दिल्ली के कवि और ग्रन्थकारों ने फ़ारसी को छोड़कर हिन्दी या रेख़ता में लिखना शुरू किया, वहाँ दक्खिन में भी ज़बान का स्टैंडर्ड रूप निखरने लगा और साथ ही साथ स्वदेशी शब्दों का बहिष्कार और फ़ारसी अरबी शब्दों की भरती आरम्भ हुई। दिल्ली से लेन देन, आना जाना १७ वीं सदी के मध्य से ही चल पड़ा था। अठारवीं सदी में यह और बढ़ा। उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में दिल्ली का केन्द्र टूट गया, लखनऊ जमने लगा, और हैदराबाद भी कलाकारों का अच्छा पोषक साबित हुआ। दिल्ली से आकर हफ़ीज़ दक्खिन में बस गए। यह दक्खिन में, ज़ौक़ दिल्ली में और नासिख़ लखनऊ में मशहूर हुए। उन्नीसवीं सदी के कवियों के ग्रन्थों में दक्खिनी विशेषताएँ प्रायः ग़ायब ही हैं। अच्छे कवियों की कृतियों में और उत्तर भारत के शायरों की रचनाओं में न भाषा का और न भाव का कोई अन्तर दिखाई पड़ता है। दोनों फ़ारसी के रंग में सराबोर हैं।

आसफ़जाही राज्य में इस भाषा में दो चार हिन्दू ग्रन्थकार भी दिखाई पड़ते हैं जिनमें ला० मोहनलाल 'मेहताब' और ला० लछिमीनरायन 'शफ़ीक़' का उल्लेख किया जा सकता है। बीसवीं सदी में, और लखनऊ की नवाबी के ख़तम होने पर १९ वीं के उत्तरार्ध में भी, निज़ाम राज्य उर्दू का एकमात्र पोषक रह गया। राज्य की ओर से खुले हाथ से उर्दू के कलाकारों और सभा

सोसाइटियों की मदद की गई। कोई भी आया खाली हाथ नहीं लौटा। अब प्रायः सभी साहित्यकारों की भाषा खालिस उर्दू है। तब भी इक्का दुक्का कवि दक्खिनी में लिख गए हैं। इनमें हलम की ठुमरियाँ और अज़मत के हिन्दी छन्द अच्छे बन पड़े हैं। मुहिब हैदराबाद के पहले शख्स थे जिन्होंने स्त्री-सुधार और स्त्री के अधिकारों पर ज़ोर दिया। इनकी वाणी आदरणीय है।

अगले व्याख्यान में दक्खिनी भाषा का विवेचन किया जायगा।

२

भाषा

पहले व्याख्यान में हम देख चुके हैं कि जिस बोल चाल की भाषा में अमीर ख़ुसरो और शेख़ फ़रीदुद्दीन शकरगंजी आदि प्रारम्भ काल के कलाकारों ने रचना की और जिसका साहित्य उत्तर भारत में लुप्त होकर, दक्खिन में १५वीं, १६वीं और १७वीं ई० सदी में फूट निकला उसका नाम हिन्दवी और हिन्दी था और उसी को दक्खिनी साहित्यकार कभी कभी दक्खिनी भी कहते थे। 'उर्दू' नाम दक्खिनी के किसी कलाकार के ग्रन्थ में नहीं आया। भाषा के अर्थ में इस शब्द का प्रथम प्रयोग उत्तर भारत के कवि मुसहफ़ी ने किया है और मीर ने निकातुश्शोअरा (१७५२ ई०) में 'ज़बान-ए-उर्दू-ए-मुअल्ला' कहा है। यहाँ उर्दू की ज़बान अर्थ है और उर्दू का अर्थ बाज़ार या लश्कर न होकर उच्च निवासस्थान (शाही क़िला या महल) है।

उर्दू भाषा के उद्गम का विचार करते समय मुसलमान मनीषी इस भाषा का सम्बन्ध मुस्लिम आक्रमण या किसी विशेष भाग में मुस्लिमों की बस्ती से जोड़ देते हैं, और इसी के कारण कभी इसे सिन्ध की, कभी पंजाब की और कभी दक्खिन की क़रार दे देते हैं, साथ ही यह ग़लत धारणा रखते हैं कि उर्दू हिन्दुओं और

मुसल्मानों के मेलजोल से निकली हुई ज़बान है। ऐसे विवेकी विद्वान जैसे मौ० सुलेमान नदवी भी लिख देते हैं—

"लेकिन हक़ीक़त यह मालूम होती है कि हर मुमताज़ सूबे की मुक़ामी बोली में मुसलमानों की आमद व रफ़्त और मेलजोल से जो तग़ैयुरात हुए उन सबका नाम उर्दू रक्खा गया है।"

मुक़ालाते उर्दू १९३४ ई० पृ० ४६

मुसल्मानों की आमद-रफ़्त व मेलजोल से भारतीय भाषाओं पर केवल एक असर हुआ और वह यह कि इनमें अरबी, फ़ारसी और तुर्की आदि विदेशी भाषाओं के कुछ शब्द आ गए, किसी में कम, किसी में कुछ ज़्यादा। मुस्लिम बादशाही के केन्द्र दिल्ली के अड़ोस पड़ोस की भाषा में, स्वाभाविक ही था कि कुछ अधिक विदेशी शब्दों ने जगह कर ली, विशेषकर उस बोलचाल में जो दरबारियों और उस समय के अफ़सरों के इस्तेमाल में आई या उन लोगों की भाषा में जिन्होंने मुस्लिम विद्यागृहों में शिक्षा पाई। आज भी हम उन लोगों की भाषा में अधिक अँगरेज़ी शब्द पाते हैं जो स्कूल कालेजों में पढ़ते हैं या पढ़ कर अँगरेज़ी दफ़्तरों में काम करते हैं। तुलना की नज़र से देखा जाय तो जनता की बोली में केवल नए विचारों का बोध कराने वाले ही विदेशी शब्द अधिकतर आते हैं, दूसरे बहुत कम। पर विदेशी शासन और संस्कृति, विशेष कर शिक्षा दीक्षा से घाल मेल करने वाली श्रेणियों में अपेक्षाकृत जनता जितने शब्द लेती है, उससे कहीं अधिक आ जाते हैं। यह भी संभव है कि यदि एक गिरोह एक जगह कई साल आबाद रह कर दूसरे स्थान पर फिर कुछ साल रहे और वहाँ कई साल रह कर फिर आगे बढ़े तो जिन

जिन स्थानों पर वह गिरोह रहा है उनके कुछ शब्द उसकी बोली में आ जायँ।

पर भाषा केवल शब्दों का समूह नहीं है। उसका एक ढाँचा होता है जो उसकी ध्वनियों और व्याकरण से बनता है। वही भाषा का देहपंजर है। उस देहपंजर में बहुत से शब्द मूलरूप से चिपके होते हैं और इन शब्दों का उस पंजर से समवाय सम्बन्ध रहता है। ये शब्द उसके दैनिक व्यवहार के हैं और उन्हें उस भाषा के बोलने वाले रोज़ काम में लाते हैं। इन शब्दों में भाषा के सर्वनाम, गिनतियाँ, खाने पीने, आने जाने, उठने बैठने, सोने आदि सर्वसाधारण क्रियाओं का बोध कराने वाले शब्द और रोज़मर्रा के इस्तेमाल की चीज़ों के नाम आते हैं।

एक तो मुसल्मान इस देश में एक साथ एक जगह नहीं आए। कुछ अरब मलाबार में ७ वीं ई० सदी में आ बसे थे, कुछ ८वीं सदी में सिन्ध आए थे, थोड़े ईरानी और तुर्क ११ वीं में पञ्जाब में जम गये और फिर १२ वीं सदी के अन्त से शुरू करके उन्नी-सवीं तक बराबर कम या अधिक भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा से होकर आते रहे। आज भी निज़ाम राज्य में कुछ ज्यादा और भूपाल में कुछ कम मात्रा में अरबी आदि विदेशियों को भरती किया जाता है। यदि इन मुसल्मानों और हिन्दुओं के मेलजोल से ही उर्दू बनती तो सिन्ध, मलाबार, पञ्जाब आदि प्रान्तों में रहने वाले मुसल्मानों की भाषा एक रही होती। सच्ची बात यह है कि इन मनीषियों की इस भ्रान्त धारणा का मूल कारण भाषा-विज्ञान के मौलिक सिद्धान्तों का और आर्य-भाषाओं के इतिहास का अज्ञान है। भाषा-विज्ञान के विद्यार्थियों को मालूम है कि वह भाषा जिसके हिन्दवी, हिन्दी, हिन्दुस्तानी और उर्दू ये कई

नाम प्रचलित हैं, संस्थान की दृष्टि से शौरसेनी प्राकृत और अपभ्रंश की आत्मजा है। जिस भाषा को भाषाविज्ञानियों ने पच्छिमी हिन्दी की हिन्दुस्तानी शाखा कहा है, वही इसकी मूल है। यह दिल्ली के आस पास की बोली है और पञ्जाब के पूरबी हिस्से की केवल इस अंश में कि इसकी दो चार बातें पूरबी पञ्जाबी में भी मिलती हैं। पर यह न तो पञ्जाबी है, न सिन्धी और न मलाबारी या और कोई दक्खिनी भाषा। यह इस देश में, मुसल्मानों के दिल्ली जीतने के पहले से मौजूद थी, विजेता उसे अपने साथ नहीं लाए। वे लाए थे फ़ारसी और तुर्की जिनके थोड़े बहुत शब्द इसमें भर गये, बस! आज भी फ़ारसी में क़रीब एक तिहाई शब्द अरबी के हैं, पर इस कारण फ़ारसी अरबी नहीं हो गई। हिन्दुओं और मुसल्मानों के मेलजोल से बनी हुई भाषा कहने का यदि इतना ही मतलब हो कि उसमें मुसल्मानों के माध्यम से ये विदेशी शब्द आ गए हैं, तो उर्दू को ऐसा कह सकते हैं। पर यदि इस कथन का यह मतलब हो कि उर्दू शैली को हिन्दू और मुसल्मान, दोनों वर्गों के कलाकारों ने बनाया और सँवारा तो यह सरासर ग़लत है, क्योंकि १८वीं सदी के पहले एक भी हिन्दू कलाकार नहीं मिलता जिसने इस शैली में ग्रन्थ बनाये हों, और तब तक इसकी शैली अधिकांश में मँज सँवर चुकी थी। बाद को जिन साहित्यकारों ने इसे अपनाया वे इस अभारतीय परम्परा के ही अभिज्ञ और पोषक थे, और स्वदेशी परम्परा से अपरिचित।

हिन्दी, हिन्दवी भाषा के उद्गम आदि की विवेचना वाले कई ग्रन्थ हिन्दी वाङ्मय में मौजूद हैं और हिन्दी भाषा और साहित्य के जानकार सचाई से परिचित हैं। उर्दू में भी डा०

सैयद मुहीउद्दीन क़ादिरी 'ज़ोर' की *हिन्दुस्तानी लिसानियात* नाम की पुस्तक है, जिसमें भी भाषाविज्ञान की दृष्टि से विचार किया गया है। इस लिये यहाँ इस विषय को दुहराकर हम आप का समय नहीं बर्बाद करना चाहते।

आज की साहित्यिक खड़ी बोली (हिन्दी या उर्दू) ने एक स्टैंडर्ड रूप धारण कर लिया है, परन्तु अपने ही प्रान्त में बोलचाल की खड़ी में उच्चारण और व्याकरण की विभिन्नता मिलती हैं। इसी तरह की विभिन्नता दक्खिनी हिन्दी के साहित्यिक ग्रन्थों में वर्तमान बोलियों में पाई जाती है। दक्खिनी आज भी आंशिक रूप से गुजरात, बम्बई, बरार, और हैदराबाद रियासत के विस्तृत प्रदेशों में उत्तर भारत से गए हुए मुसल्मानों और हिन्दुओं की बोलचाल की भाषा है। वर्तमान दक्खिनी का विवरण डा० क़ादिरी ने अपनी अँगरेज़ी किताब *हिन्दुस्तानी फ़ोनेटिक्स* में दिया है। संक्षिप्त ब्योरा सरकार द्वारा प्रकाशित *भारतीय भाषा सर्वे* की नवीं जिल्द के पहले हिस्से में मौजूद है। १८६१ ई० की आबादी की रिपोर्ट के अनुसार दक्खिनी के बोलने वालों की संख्या ३६,५४,१७२ थी। वर्तमान दक्खिनी के लक्षण अधिकांश में पुरानी (साहित्यिक) दक्खिनी पर भी लागू हैं। यहाँ इसका थोड़ा विवरण दे देना ज़रूरी है।

(१) हिन्दी बोलचाल के सभी स्वर अ आ, इ ई, उ ऊ, ऍ ए, ऒ ओ, ऐ औ दक्खिनी में भी मौजूद हैं। डा० क़ादिरी का

ध्वनियाँ

कथन है कि उकार और ओकार के बीच के उच्चारण का एक स्वर दक्खिनी में और सुनाई पड़ता है जो उत्तर भारत की बोलचाल में नहीं सुन पड़ता पर जो द्राविड़ी में मिलता है। स्टैंडर्ड

पट्ठा शब्द का दक्खिनी रूप पुट्ठा है जिसका उकार, न उ ही है और न ओं ही। उल्लेख के योग्य दूसरी बात यह है कि यदि पास पास के दो अक्षरों में दोनों जगह दीर्घ स्वर हो, तो पहले का उच्चारण कभी कभी ह्रस्व हो जाता है, जैसे,

वो अदमी नहीं जिसमें इन्साफ नैं। (क़ुतुब मुश्तरी)
विलायत के अस्मान ते मार ज्यों। (सैफ़ुल्मलूक बदी उज्जमाल)
हैरत ते गूंगे हुए सब मोती। (सबरस, पृ० २२)
सुंगते दिल में भरे उसास। (सबरस, पृ० १०)
इसी तरह *भिगना* (भीगना) आदि।

(२) हिन्दी बोलचाल के सभी व्यञ्जन भी दक्खिनी में मौजूद हैं। पढ़े-लिखों की भाषा में फ़ारसी अरबी के भी कुछ आगए हैं। ये हैं *ख़, ज़, ग़, फ़, क़*। अन्तिम के बारे में डा० क़ादिरी ने लिखा है—

"अरबी हर्फ़ क़ाफ़ का तलफ़्फ़ुज़ हिन्दोस्तान के लिए अजनबी है, इस लिए दोआबः के उर्दू बोलने वालों के अलावा दूसरे मुक़ामात के उर्दूदाँ इसका सही तलफ़्फ़ुज़ नहीं करते। पञ्जाब में यह क की तरह बोला जाता है और दक्खिनी में ख़ की तरह।"

—हिन्दुस्तानी लिसानियात, पृ० १०६

उदाहरण के लिये *शौक़* की जगह *शौख़* और *वक़्त* के लिए *वखत*। इसी तरह उत्तर भारत की बोलचाल में क़ की जगह ख बोला जाता है (*सौख, बखत*)।

(३) उत्तर भारत की बोलचाल में जहाँ एक ही शब्द में दो मूर्धन्य ध्वनियाँ पास पास के अक्षरों में आती हैं, वहाँ दक्खिनी में पहली के स्थान में दन्त्य ध्वनि आ जाती है, जैसे—

तौंटा (टंटा), *तुटे* (टूटे), *तेढीच* (टेढ़ी ही), *थंडी* (ठंडी), दाट (डाट), *दपटना* (डपटना), *धूँड़ते* (ढूँढ़ते), *दंडल* (डंठल) *धुँडाने* (ढूँढने)—वजही।

(४) स्टैंडर्ड खड़ी बोली में जहाँ शब्द के मध्य का दीर्घ व्यञ्जन ह्रस्व हो गया है और प्रतिकार में, पूर्ववर्ती स्वर दीर्घ, वहाँ दक्खिनी में बहुधा व्यञ्जन दीर्घ ही पाया जाता है और पूर्ववर्ती स्वर ह्रस्व, यथा—

हत्ती—देख्या यक हत्ती को जो आता अथा।

सुन्ना (सोना), *चुन्ना* (चूना), *छल्ले* (छाले), *फिक्का* (फीका) आदि।

यह विशेषता खड़ी बोली की बोलचाल में भी पाई जाती है। उस में कभी कभी गाड़ी की जगह *गोड्डी* या *गड्डा* सुनाई पड़ता है। इसके अलावा भी दक्खिनी में दीर्घ व्यंजन (द्वित्व) मिला है, जैसे, *डल्ली* (डली), *तल्ला* (तला) आदि। यह बात भी उत्तर भारत की बोलचाल में पाई जाती है।

(५) दक्खिनी में महाप्राण ध्वनियाँ बहुधा अल्पप्राण मिलती हैं, यथा—

ख का क—*मुँजे देक तूँ, लाक, पारकी, मूरक, रकते नहीं, फल चाक देख*।

घ का ग—*पत्थर पिगले, गुला कर*।

छ का च—*बिचड़ावे, छाच, कुछ का कुच, पिचें* (पीछे), *पूच*।

झ का ज—*समज, समजेगा, मुज कों, तुज कों*।

ठ का ट—*उट*।

ढ़ का ड़—कड़ाई, बड़ाई (=बढ़ई), काड़ूँ, पड़ेगा पड़ने कों, चड़ चड़।

थ का त—हात, हती (हाथी), सात (साथ)।

ध का द—अदिक, सुद, दूद, बाँद कर।

भ का ब—जीब, बी।

इसी प्रकार -न्ह- की जगह -न- और -म्ह- की जगह -म- ध्वनियाँ मिलती हैं—

पिनाना (पिन्हाना), *पैनना* (पैन्हना-पहनना)।

कुमलाते (कुम्हलाते)।

शब्द के मध्य का -ह- कहीं कहीं बिलकुल ग़ायब हो गया है, विशेष कर कह- धातु के रूपों में, जैसे—

क्या मैं (कहा मैं), क्यों अरबी में *कता* (कहता) है, दुनिया उसे *कते* (कहते) हैं। *ठैरते* (ठहरते), *पैछान* कर (पहचान कर) में -ह- की ध्वनि ग़ायब होकर अगले अक्षर में जा मिली है।

एक आध उदाहरण अल्पप्राण व्यंजनों के महाप्राण हो जाने के भी मिले हैं, यथा *उल्ठे* (उल्टे), *फंखड़िया* (पंखड़ियाँ)।

(१) साहित्यिक खड़ी बोली में व्यंजनान्त पुंलिंग संज्ञाओं की अविकारी विभक्ति के एकवचन और बहुवचन दोनों में एक ही रूप रहता है (जैसे, चोर आया, चोर आए), पर दक्खिनी में बहुवचन के लिए अविकारी में भी -आँ जोड़ दिया जाता है, यथा—

संज्ञा

होर गवालियर के चातुराँ, गुन के गुराँ उनों भी बात कों खोले हैं, यों बोले हैं।

हौर फ़ारसी के दानिशमन्दाँ, जिनों समझते हैं बाताँ के बन्दाँ, उनों
  कों यो भाषा है।

गाफ़िलाँ ने बोले हैं। .ख़ुदा के दोस्ताँ ने बोले हैं। हज़रत के याराँ
  हैं। जेते गुनकाराँ होयसन आव सगन। बाज़े अजब लोकाँ
  हैं। ढंगाँ, जीवाँ, जाहिलाँ।
    खेलाँ बहोत वले खेलनहार एक।
    ऐसियाँ औरताँ ख़ातिर जीवाँ देते हैं।

(२) व्यंजनान्त स्त्रीलिंग संज्ञाओं की अविकारी विभक्ति का बहुवचन साहित्यिक खड़ी बोली में *-ऐं,-एँ* जोड़ कर बनाया जाता है, पर दक्खिनी में पुंलिंग की तरह *-आँ* ही जोड़ कर बनाए हुए रूप बहुधा मिलते हैं, जैसे—

छुप्याँ न्यामताँ ग़ैब क्याँ पावें चल।
जेत्याँ औरताँ दोस्तदाराँ की थ्याँ।
झूट्याँ बाताँ कती (कहती)।
एक इश्क़ उसके एते रंगाँ एत्याँ सूरताँ।
बाटाँ बहोत वले ठार एक। किताबाँ।

(३) साहित्यिक खड़ी बोली की इकारान्त-ईकारान्त स्त्रीलिंग संज्ञाओं में इस अविकारी विभक्ति के बहुवचन में *-याँ* जुड़ता है, उसी तरह दक्खिनी में भी, यथा—

एक अपे, अपनियाँ एतियाँ मूरतियाँ।
बेसियाँ शाहपरियाँ।

साहित्यिक हिन्दी में आकारान्त पुंलिंग का बहुवचन *-आ* के स्थान पर *-ए* आदेश करके बनता है, दक्खिनी में *-याँ* जोड़ कर, जैसे *सब दानायाँ* (दाना लोग)।

(४) साहित्यिक खड़ी बोली की विकारी विभक्ति के बहुवचन में सब संज्ञाओं में -ओं या -यों जोड़ा जाता है, पर दक्खिनी में -ओं रूप अपवाद है, सब कहीं -आँ,-याँ रूप ही मिलता है, यथा—

ऐसियाँ औरताँ ख़ातिर, अपन्याँ मावाँ ख़ातिर, अँखियाँ सों, बतियाँ में बाज़ियाँ (बाज़ों) को, छुरियाँ सों, मुसल्मानाँ में, हिन्दुआँ में, सीपियाँ समाँ (सीपों की तरह), बन्दाँ बन्दयाँ (बन्दों) को, मिल्याँ (मिलों) को चिचड़ावे, दीदयाँ (दीदों) के अधार कों, अंगारयाँ (अंगारों) में बहाया, तलवयाँ (तलवों) में, गई सो जन्याँ (जनों) पास वो। दुन्दियाँ पर तूँ जो खड़ग चल खींच धावे।

(५) साहित्यिक खड़ी बोली में जहाँ संज्ञा को दुहरा देते हैं वहाँ दक्खिनी में दुहराते समय पहली संज्ञा के अन्त में -ए,-एँ जोड़ देते हैं, जैसे—

घरे घर (घर घर,) *ठावें ठावँ, ठारें ठार, राते रात*।

(६) दक्खिनी में लिंग का बहुधा व्यत्यय मिलता है, साहित्यिक खड़ी बोली की पुंलिंग संज्ञा कहीं स्त्रीलिंग में और कहीं स्त्रीलिंग संज्ञा पुलिंग में पाई जाती है। विदेशी शब्दों में यह बहुधा देखा गया है। उदाहरण के लिए--

अगर कोई बड़े की अदब रख्या। यहाँ अदब स्त्रीलिंग है।

बादशाह की नाँवें अक़ल। जिसकी नाँवें ख़ुदा है। परन्तु *उसका नावँ* आदि प्रयोगों में यह शब्द पुंलिंग ही बहुधा मिला है। इश्क़ का चश्म बेपरवाई, यादगार हो अछेगा, अक़्ल अपना सँभाल पाने का फ़िकर कर, देखने का बात, और जागा ना या आशनाई का शरम, दिये का पिरीत, सुनी यक पलँग।

इसी तरह *शराब, ख़बर, सूरत, दुनिया, आवाज़, इमारत, उम्र, मुश्किल, दाद, क़ुदरत, ज़रूरत, दवा, हक़ीक़त, हालत*, पुंलिंग

में इस्तमाल हुए हैं और *ख़याल* स्त्रीलिंग में। निश्चय ही इस प्रकार का व्यत्यय हिन्दी की अन्य बोलचाल में भी पाया जाता है।

साहित्यिक खड़ी बोली के अन्य पुराने ग्रन्थों की तरह दक्खिनी में सर्वनाम शब्दों की बहुरूपता मिलती है।

सर्वनाम कुछ उदाहरण पेश किए जाते हैं।

(१) उत्तम-पुरुषवाचक सर्वनाम में बहुवचन में *हम हमैं* के अलावा *हमन हमना* रूप भी इस्तेमाल में आए हैं और इनका अर्थ विकारी विभक्ति का या अविकारी का या विशेषण का हुआ है जैसे--

हमन (हम) *ते*, *हमना ते*, *हमना उपर*, *हमन* (हमारे) *ख़्वाब में*, *हमना* (हमको) *क्या काम*, *सो हमना* (हमें) *देखे*, *हमन* (हमारे) *संग*, *हमन* (हमारे) *पाप ते*, *हमन को*। एकवचन के रूप *मुजकों*, *मुँजे* आदि में 'झ' का ज हो जाना दक्खिनी में स्वाभाविक ही है। पर एक स्थान पर *मु सों* (मुझ से) रूप भी मिला है।

मध्यमपुरुष में भी *तुमन*, *तुमना* रूप उत्तमपुरुष के *हमन हमना* के वज़न के मिलते हैं, जैसे *तुमन बिन*। *तुमरे*, *तुमारी* रूप में महाप्राणत्व का लोप हो गया है। एकवचन में *तुज*, *तुझ*, *तुजे* आदि रूप हैं और *तुज* रूप *तेरा तेरे* के अर्थ में भी इस्तेमाल हुआ है, जैसे *तुज इस्म* (तेरा इस्म), *तूज* (तेरे) *बिन*। अन्तिम उदाहरण में स्वर की दीर्घ मात्रा छन्द के कारण कर दी गई है।

अन्यपुरुष के एकवचन में अक्सर *वो* रूप मिलता है और कभी कभी *ओ* और *वह*। *सो* भी बहुधा दिखाई पड़ा है। कर्मवाचक *उस*, *उसे* के स्थान पर कई रूप मिले हैं।

वो करे सो होय। आपी किया उसे (उसका) क्या इलाज। *उसों, उसों, तिसपर। लगी बोलने यों मिठे बोल उसों(उसको)।*

बहुवचन में विकारी और अविकारी दोनों विभक्तियों में उनो, उनों रूप बहुधा मिलता है, जैसे—

उनो भी बात को खोले हैं, उनो को, उनो ते, उनन दोई के पाँव पर। एक स्थान पर उने वह के लिये इस्तेमाल किया गया है।

(२) दूरनिर्देशवाचक सर्वनाम भारतीय भाषाओं में अन्य-पुरुषवाचक के ही रूप ग्रहण करता है। निकट-निर्देशवाचक के *यो, ये, ए, यह, इने* रूप मिलते हैं, जैसे—

न यो इसे देख्या न वो उसे जाने। ए बात। ये ज्योती। यो दो। और खाकी इने।

(३) सम्बन्धवाचक सर्वनाम के एकवचन में जो, *जिसे* आदि और बहुवचन में *जिने, जिनो* आदि रूप हैं, यथा—

जो—*सो। जिने कुछ समज्या...उने अपनी जागा राख्या गुन। जिने सुन्या उने घायल होना है। जिनों समजते हैं। जिनों की नेकी*

(४) निजवाचक सर्वनाम के बहुतेरे रूप मिलते हैं। यथा—

एक अपे अपन्याँ एत्याँ मूरतियाँ।

अपे अपस कों देखे, अपे अपस ते अपस कों छिपावे, इधर भी अपे उधर भी अपे, अपे तरसते अपें तपते। अपे भी फ़र्माई। सब आपस में अपे चार। अपसें (अपने आप)। *आपी आप* (आप ही आप)। *आपी किया उसे क्या इलाज। अपस सों अपे। आपने* (अपने) *घर मने* (में)।

कभी कभी निजवाचक सर्वनाम की जगह पुरुषवाचक सर्वनाम ही प्रयोग में आया है, यथा—

मुँजे तेरी (अपनी) बेटी को दे शाद कर।

ऐसे प्रयोग मालवी आदि अन्य बोलियों में भी मिलते हैं।

(५) परवाचक सर्वनाम *और* और समुच्चयबोधक अव्यय *और* में साहित्यिक खड़ी बोली में कोई भेद नहीं किया जाता पर दक्खिनी में परवाचक *और* है तथा समुच्चय-बोधक *हौर*, यथा--

किसी और के होते। और ख़ाकी इने।

(६) प्रश्नवाचक सर्वनाम अप्राणिवाचक *क्या* का और प्राणिवाचक *को*, *कौन*, *कवन* है। बहुवचन का रूप *किन* है, यथा *किनने*।

(७) सर्वबोधक सर्वनाम *सब*, *सभीं* हैं।

(८) अनिश्चयवाचक अप्राणिबोधक कुछ (कुछ) और प्राणिबोधक *किने*, *कोई*, *किसे* आदि रूप हैं, यथा—

मुहम्मद की जागा किने (कोई) पाये ना।

किसे (किसी को) क्या क़ुदरत।

कूच में स्वर की दीर्घमात्रा छन्द के कारण है।

(९) सम्बन्धवाचक और अनिश्चयवाचक को जोड़कर बोलने का जो चलन उत्तर भारत में है वह दक्खिनी में भी मौजूद है। इनमें जो का कभी कभी जु हो गया है, यथा—

जु कोई, जु कुछ, जु कुच।

(१०) सर्वनाम-विशेषणों में साहित्यिक खड़ी बोली में *-ना*, *-नी* वाले रूप (*जितना*, *जितनी*, *जितने*) ही मान्य हैं, पर दक्खिनी में ये कम मिलते हैं और साधारण बोलचाल के (*-ता* *-ती* *-ते*) रूप अधिक, जैसे—

सिफ़त करे कोई कितेक, जेती ।

येता, जेती तेती, केता ।

एते रंगाँ एतियाँ सूरतियाँ ।

जिते विते । एते चाले ।

स्त्रीलिंग के विशेषणों के बहुवचन में भी *-याँ* प्रत्यय जोड़ा जाता है, *ऐसियाँ, जैसियाँ, एतियाँ, तेतियाँ* ।

संख्यावाचक शब्दों के भी कई ऐसे रूप मिलते हैं जो साहित्यिक खड़ी बोली में मान्य नहीं । एक के लिए *एकस* रूप भी था, जैसे *एकस का, एकस कों, हर एकस कों* । एक का छोटा रूप *यक* भी पद्य में प्रचलित है । दो के लिए *दोइ, दोय* रूप भी मिले हैं ।

संख्यावाचक

ग्यारह की जगह *एग्यारह* और *पचीस* के लिए *पचीस* । *नव्वे* के लिए *नवद* (*सं० नवति*) और *निन्यानवे* के लिए *नवद नौ* (*सं० नवनवति*) ये रूप प्रयोग में आए हैं—

नवद पर गई तब जन्याँ पास मैं ।

नवद नौ हैं तुज नाँव यक नौंव नैं ।

दोनों, तीनों के लिए अनुस्वार-रहित रूप *दोनो तीनो* मिले हैं । *दूसरा* के लिए *दुसरा, दूजा* और *तीसरे* के लिए *तिसरे* ये रूप ग्रन्थों में आये हैं । *दुगना तिगुना* की जगह *दुगुन तिर्गुन* इस्तेमाल हुए हैं ।

ही का अर्थ साहित्यिक खड़ी बोली में पूरा शब्द जोड़कर किया जाता है (*किताब ही, सभी, आप ही*) पर बोलचाल में केवल *-ई* बहुधा *ही* की जगह ले लेता है (*किताबी, आपी* आदि) । दक्खिनी में भी कहीं कहीं *-ई* या *-ईं* ही मिलता है, जैसे—

बली रूप

आपी, आपीं, हमीं, तुमीं।

अन्यथा ही हीं वाले रूप (तूँहीं, तुहीं) भी मिलते हैं।

इनके अलावा -च,-छ में अन्त होने वाले इसी अर्थ के द्योतक रूप बहुतायत से मिलते हैं, यथा--

ख़ुदा मना किया सो बुरे फ़ेलाच ख़ातिर।
यों च यार कों यार कैते।
यों च, नहीं च, पिउ च, ऐसे च,देखते च सुनते च, तूँ च।
भाती च हैगी यो सवाद की बात।
बहुते चा लजीज़। उसीच का।
यो छ, अपनी छ। काम होता छ भला। मँगने छ पर आवे।
यहाँ छ बनेछ।

एक आध जगह -ज वाले रूप—*अन्तर ते ज*—भी मिले हैं।

परसर्ग

हिन्दी के पुराने ग्रन्थों में परसर्गों का उतना प्रयोग नहीं मिलता जितना वर्तमानकाल में। १९२३ में हमने इण्डियन ऐंटिक्वेरी में "रामायण में संज्ञा-रूप" नाम के निबन्ध में यह दिखलाया था कि आज की तुलना से तुलसीदास की रामायण में परसर्गों के प्रयोग का अनुपात केवल २५ प्रतिशत के क़रीब है। प्रायः ऐसी ही स्थिति दक्खिनी के पुराने ग्रन्थों में मिलती है। नीचे के उदाहरण देखिए--

छुपाने ख़ातिर, बहलाने ख़ातिर, मिलने ख़ातिर, साहब पास, किसी ना दिखलावे किसी ना सुनावे,दम मारने या किसी नैं मजाल, सबरस सब को पढ़ने आवे-हवस, उस यादगार, यकायक चलनें किसकी मजाल, किसी जुदा न कर,दुन्दी रश्क ते, लैला मुँह बात,इन बोलों शुरू किया, किस काम न होय, दिल पीछे, उस आछें, जिस सिफ़ात, इस (की) तफ़सील , तिस मदाह, जिन्ह ख़ालिक़, हर भातीं कहा।

(१) कर्तृवाचक परसर्ग ने का प्रयोग अनियमित है। वर्तमान में जहाँ इस्तेमाल होता है, वहाँ दक्खिनी में यह नदारद है, और जहाँ नहीं होना चाहिए वहाँ मौजूद है, यथा—

खुदा के दोस्ताँ ने बोले हैं। वासिलाँ ने बोले हैं। ग़ैर ने समजी। उनों भी बात को खोले हैं।

अक़ल दिल को दिया है पादशाही।

बादशाह शराब पिया।

ने की जगह कहीं नी भी मिलता है।

कर्मवाचक परसर्ग को की निस्बत कों अधिक इस्तेमाल में आया है--

जहालत कों, ज़रूर कों, किसी कों नैं मिले।

(२) करण-अपादानवाचक का रूप केवल से नहीं है, इसकी निस्बत सों, ते, थे, सती, सते, सेती, सात आदि रूप अधिक मिलते हैं, जैसे—

लताफ़त सती खोल मीठी ज़बाँ।

कामाँ सते।

अपस सों, सब सों। माक़ूल जिस सों।

इस धात सेती।

कह्या मेहरबाँ हो तब उस सात नाग।

किसी के करने ते।

बन में थे। अदम में थे।

क़ादिरी ने गुजराती से प्रभावित दक्खिनी में *सोय* का भी प्रयोग बताया है, यथा *निहायत सोय*।

(३) सम्प्रदान का वाचक अधिकतर *खातिर* है, पर *तईं* भी मिलता है, यथा--

अपनी खातिर को।

समुन्दर के तईं।

(४) साहित्यिक खड़ी बोली में सम्बन्धवाचक परसर्ग के रूप केवल *का, की, के* हैं, पर दक्खिनी में रूप-बाहुल्य है। विशेषकर *केरा, केरी, केरे* रूप भी मिले हैं, और स्त्रीलिंग के बहुवचन में *क्याँ* रूप पाया जाता है। देखिए--

उनन के मोछ्याँ।

उनों क्याँ अँखियाँ।

ख़ुरासान क्याँ क़ुमरियाँ। दिल के फ़ायदे क्याँ बहुत बातों है।

कि बातां यो सुनकर मेरी ग्यान क्याँ।

उस राज को (के)।

कि है चाकरी मर्द केरा सिंगार।

मोहब्बत केरा मय जो पीता अहे।

मोहब्बत केरे मय को पीता अछूँ।

सलासत नहीं जिस केरे बात में।

अजब तेरे क़ुदरत केरे काम हैं।

(५) अधिकरण के परसर्ग *में* के अलावा *मने, मियाने, महैं, महिं* आदि और *पर* के अतिरिक्त *पो, उपर, उपराल* अधिक प्रचलित हैं, जैसे--

इन दोनों में।

हर यक शय मने।

जिस पो, मुइँ पो, पावों पो।

किस उपर, मुँज उपर, उस उपर, सब उपर।

मुँज उपराल।

दक्खिनी का वर्तमान साहित्यिक खड़ी बोली से ख़ास भेद क्रिया में है।

क्रिया (१) स्टैंडर्ड हिन्दी के कर्मवाच्य के भूतकाल में क्रिया का वचन और लिंग, कर्म के अनुरूप होता है, पर दक्खिनी में वहाँ भी कर्ता के ही अनुरूप, कर्तृवाच्य की तरह रहता है। देखिए--

उसे लोग तो लइ वज़ा सों डराए।
साहब आस्मान ज़मीन ने फ़र्माये।
हुज़ूर बुलाय पान दिये और फ़र्माये।
नबी बात यो सुन कहे जाय चल।
जिते आक़िलाँ ने अक़ल दौड़ाए।
वो देना याँ पाक है आरिफ़ाँ ने क़बूल किये हैं।
ख़िलाफ़ नैं किये। पैदा किया ज़मीन।
क्या वली क्या नबी सिजदा किये उस ठार सभी।
जिसे ख़ुदा दिया सफ़ाई उसे आई।
जो कोई यो बाट पाया। धनी जो धरती धरया।

मैं तो यो बात नैं किया हूँ,
ईसा होकर बात को जीव दिया हूँ।
काम बहोत ख़ास किया हूँ।
हुस्न परी हिज़ करी।
ग़ैर दिल को समजाई।
मेरे हक़ पो तू कुच बी नेकी न की।
ख़ुदा का हुआ खेल कैसा देखी॥
क्या जाने क्या गुनह की थी अव्वल ज़माने।

वह महताब सा मुख जो उसका निम्हाई।
इन छिनाल ने मुझ मारी,
इन छिनाल ने मेरा घर वाल़ी।
उनने आख़िर मरद को गँवाई।
यो तक़सीर तेरा सो बख़्शी हूँ मैं।
उनो ने अपना नफ़ा खींचे।
दिया इश्क़ ने आरायश।
तूँ धोया गुनाहाँ।
जो कामाँ किया है शुजाअत के तूँ।

(२) निष्ठा—निष्ठा का पुंलिंग एकवचन रूप साहित्यिक खड़ी बोली में आकारान्त धातुओं को और कुछ औरों को छोड़ कर (*लाया, आया, गया, किया*) सब जगह -*आ* में अन्त होता है, पर दक्खिनी में *आ* वाले रूपों के अलावा -*या* वाले रूप भी बहुतायत से पाये जाते हैं। उत्तर भारत की खड़ी बोलचाल में भी यही स्थिति है। दक्खिनी के उदाहरण देखिए—

जान्या, जुड़्या, पूछ्या, विचार्या, धर्या, पहचान्या, बोल्या, दौड़्या, कर्या, रख्या, सिर्ज्या, लग्या, भर्या, भेद्या, देख्या, ल्याया, लाइया, कह्या, सह्या, किया, चीन्त्या, बैसला।

इसके बहुवचन के रूप पुंलिंग में -*आ* -*या* के स्थान पर ए का आदेश करके खड़ी बोली की तरह बनते हैं। स्त्रीलिंग में एकवचन- ई के आदेश से और बहुवचन- याँ के आदेश से बनते हैं, यथा—

दिई भेज। थ्या।
बुलाया तो आयाँ घर उसके वेत्याँ।

ओ हँस पड़्याँ खोल मों।

सो वें उट खड़्याँ हौर कहाँ।

(३) वर्तमानकालिक (शतृ) रूप खड़ी बोली में पुंलिंग में *-ता* में अन्त होते हैं पर दक्खिनी में *-त* में भी पाए जाते हैं। अन्य कुछ रूप ऐसे भी हैं जो आज खड़ी में नहीं दिखाई पड़ते पर बोलियों में मिलते हैं, जैसे—

होता सब ख़ुदा का भाता। देख्या जाता। जिउते कों।

इश्क अब भावता ख़यालो है। स्त्री० *लावती। होवता।*

बहुवचन में *लावते, जावते। दो दिल एक दिल होतें।*

न गमता देखत वक़्त हैरां हुई।

स्त्रीलिंग का बहुवचन एकवचन के *-ती* के स्थान पर *-त्याँ* का आदेश करके बनता है, जैसे—

दायम झगड़त्याँ जो बुलबुलाँ लड़त्याँ।

चारों तरफ़ से बरसत्याँ गालियाँ।

हमीं करत्याँ हैं। गमात्याँ।

असील औरतां अपने मरद बग़ैर दूसरे कों अपना हुस्न देखलाना गुनाह कर जान्त्याँ हैं, अपने मरद को हर दो जहाँ में अपना दीन व ईमान कर पहचान्त्याँ हैं।

(४) भविष्यकाल के रूप खड़ी की तरह *-गा, -गी* में अन्त होने वाले अधिकतर मिलते हैं, पर थोड़े से रूप *-स* वाले भी ग्रन्थों में मौजूद हैं। देखिए—

खागा। कहा जायगा। देखोंगा। मेलागी। ल्यायगा। सकेगा तुँ।

ख़ुदाये ताला दिखलायेंगा। दिल का शक जायेंगा।

निकलसूँ; लेसूँ (उत्तम० एक०)। *न रहसे हमन याँ।*

ख़ुदा को इस नज़र सों देख्या ना जासी।

ख़ुदा नज़र में ना आसी।

इस किताब को सीने पर ते हलासी ना।

इस किताब बग़ैर कोई अपना वक़्त भुलासी ना।

जेते गुनकारां होयसन।

न होसी हुनर इस वज़ा किस सती।

न करसी क़दम कोइ आँगे इस सती।

पुंजसे न यहँ (यहाँ न पैदा होंगे)।

अछ्से (होंगे)।

चलसे (चलेगा)। जरोसी (हज़म होगी) । न होसे (न होगा)। तूँ ना होसी।

(५) पूर्वकालिक क्रिया के रूप साहित्यिक खड़ी बोली में आज धातुरूप के बाद कर, के जोड़कर बनाए जाते हैं, पर बोलियों में प्राचीन काल के पूर्वकालिक रूप (ल्यबन्त) की -इ अब भी मौजूद है। यह दक्खिनी में भी पाई जाती है। इसके अलावा कर या के के अतिरिक्त को भी जोड़ा जाता है, यथा—

हुज़ूर बुलाय पान दिये। मिला के एक करे। उतर आयकर। ल्यायकर। मिल को। होय कर। होय को। तसलीम कर कर। चल्या राय कों लेको जीता वहाँ।

(६) क्रियार्थक संज्ञा—खड़ी में इसका अविकारी रूप -ना है और विकारी -ने। पर दक्खिनी में -न में अन्त होने वाले रूप भी मिलते हैं, यथा—

करन जायगी।

लगा देवन। सोवने। बोलन। किसी के करन ते क्या होय। पानी पिलान (पानी पिलाने)।

जावने (*जाने*) । *आवना जावना* ।

कहीं कहीं जहाँ आज खड़ी में अविकारी रूप आता है वहाँ दक्खिनी में विकारी का प्रयोग मिला है, जैसे--

मैं भी चुलबुलाने जानती हूँ ।

तो भी यकायक चलने किसका मजाल ।

(७) साहित्यिक खड़ी में *सक*- धातु के पूर्व पूर्वकालिक क्रिया-का धातु-रूप लगाया जाता है, पर दक्खिनी में अधिकतर क्रियार्थक संज्ञा का विकारी रूप मिलता है, यथा—

सिर उसका तूँ सकता है ल्याने अगर ।

करने सके ।

खड़ी में आज *सक*- धातु एक सहायक क्रिया के रूप में ही इस्तेमाल होती है, पर दक्खिनी में जगह जगह यह स्वतन्त्र रूप से प्रयोग में आई है। ऐसे स्थानों पर *कर सकने* का अर्थ है, यथा--

ख़ुदा सकता । *सकेगा तु* ।

(८) कर्तृवाचक संज्ञा--यह साहित्यिक खड़ी बोली में *-वाला* जोड़कर बनाई जाती है, पर दक्खिनी में अधिकतर *-हारा -हार* जोड़कर बनी है, यथा--

मिलनहारा, धरनहार, सिर्जनहार, करनहारा, जानहारा, अछनहार, समजानहारा, समजानहारे, चलनहारे, बोलनहारा च ।

रहनहार ।

लेनहार खेलनहार एक ।

पैदा करनहारे ने यों पैदा किया पैदायश ।

(९) सहायक क्रिया—स्टैंडर्ड हिन्दी में इसके रूप सीमित हैं (वर्तमान हूँ, है, हैं, हो; भूत था, थे, थी, थीं; भविष्य हूँगा, *होगा, होंगे, होगी, होंगी*) पर दक्खिनी में इनके अलावा *अछ*-, *अह*-, *अथ*- रूप भी काफ़ी मिलते हैं, देखिए--

तूँ उसकी इबादत में दिनरात अच (हो, रह)।

अछ (है), अछे (रहे), हो अछेगा, अछता, अछते हैं, अछती। अछता है, अछना। अछो (हो), अछसे (होंगे)।

ख़ास अछो या आम (हो)। आया अछे (है)।

औरत गर सुघड़ अछी।

जो जग में सदा काल जीता अछूँ।

नहीं मिलकर अचत यो दो एक ठार।

जो फ़ीरोज़ महमूद अचते जो आज।

अथे दो जने। रतन यो अथे।

अथ्या। अथी।

थ्याँ (थीं)।

अहे तूँ अथा तूँ अछैगा तुहीं। रचे तूँ रच्या तूँ रचैगा तुहीं।

शेर गर्चे लै लोग जोड़े अहैं। बुरे भांत हौर ख़ूब थोड़े अहैं।

कोई क्यों उसे कहे है कि यों है ख़ुदा है।

अहैं है।

हैंगी।

एक जगह मध्यमपुरुष के साथ हैं का प्रयोग मिला है, होना चाहिए था हो,—

लेकर आये हैं तुम दग़ा दे इसे।

(१०) प्रेरणार्थक क्रिया—इसके भी दो-चार बोलचाल के रूप पाए गए हैं, यथा--

देखलाता, दिखलाता।

मुसल्मान कहवाते।

(११) इच्छाथक धातु चाह -के अलावा चाव- और मंग- भी पाई गई हैं, जैसे—

चावे (चाहे)।
अगर दिल मंग्या।
जिसे ज्यों मंगता उसे वों रखता।
अगर मंगता है दिल में मुहब्बत भरे शराब पी।
अगर कुछ ऊँचा चढ़ने मंगता है तो शराब पी।

(१२) साहित्यिक खड़ी बोली से बहुत भिन्न और अजीब सा एक प्रयोग कर के साथ दक्खिनी में मिलता है, देखिए—

इश्क़ की सूरत कैसी है कर क्यों कहा जाता।
ख़ुदा है कर तो बोल्या जाता।
अँधारे को उजाला कर समजता।
हम मुसल्मानाँ तुजे बड़ा कर जानेंगे।
(दिल) किधर गया है कर धुंडने लग्या।
मामला यों है कर बोल्या।
तो उन लोड़ती हैं तुजे मर्द कर।

यहाँ कर का इस्तेमाल कहीं यह ऐसा के अर्थ में, कहीं समझ कर के अर्थ में हुआ है। डा० अब्दुलहक़ कहते हैं कि ऐसा इस्तेमाल "मीर अमन के हाँ भी पाया जाता है।"

दक्खिनी में क्रिया-विशेषण, समुच्चय-बोधक आदि अव्ययों के बहुतेरे प्रयोग स्टैंडर्ड हिन्दी से भिन्न हैं।

अव्यय (१) स्थानवाचक क्रिया-विशेषणों में जधाँ, तधाँ, कधन, कधीं, काँ, याँ वाँ, वइँ (वहाँ) कईं आदि मिलते हैं, यथा—

इश्क़ कइँ नैं ख़ाली।
इश्क़ कधीं आक़िल कधीं।

इसी तरह बाहर के लिए *बहार, भार, बहेर,* आगे के लिए *आगें आघें* भी पाए जाते हैं, जैसे—

अगर घर ते जो तूँ न निकले बहार।

आगें के।

संग के लिए *सँगात, साथ* के लिए *सात (अदब सात)*, पास के लिए *कने (हज़रत कने, मरद कने, सिपाही कन), तरह* के लिए *निमन (बाटसारू निमन), नेमे (मरद नेमे), नमेन (खुदा नमेन), धात (यक घात , बहु घात) जिस (माकूल जिस सों)* और *नीचे* के लिए *तल* तथा ऊपर के लिए *उपर, उपराल* शब्द इस्तेमाल हुए हैं। *नज़दीक* के लिए *नज़ीक* मिलता है। *बहुत* के लिए *बहोत, भौत* बहुधा आया है। *तक* का अर्थ *लक, लग (अपस बिसरे लग), लगन (आक़बत लगन, आज लगन, जौ लगन)* से होता है।

(२) समयवाचक अव्ययों में *ये ताल (इस समय) इतवार (इस मर्तबा), तिल (तिल ना देखे = क्षणभर न देखे), अताल (अब), अजहों (अब तक , आज तक)* आदि बहुत से, स्टैंडर्ड से भिन्न प्रयोग मिले हैं।

(३) प्रश्नवाचक *क्यों* के स्थान पर बराबर *की (सं० किम्)* इस्तेमाल में आया है और *बेहतर* के लिए *बरी (सं० वरम्)* यथा—

बरी की न मैं इस उचाकर ले जाऊँ।

(४) निषेधवाचक *नहीं, न* के अलावा *ना, नैं , नको* आदि मिले हैं, यथा—

ना दिक ना देस न हाँक न पुकार।

खिलाफ़ नैं किये। नैं जले सो जले की बात क्या जाने।

तुँ ग़ाफ़िल न को अक्ल मेरे हाल ते।

बिना के अर्थ में बाज (सं० वर्ज्-) का प्रयोग बराबर हुआ है, यथा--

वहाँ दूसरा न था कोई अली बाज।

समजे ना कोई आशिक़ बाज।

उसके हुक्म बाज ज़रों कइँ नैं हिलता।

(५) समुच्चयबोधक *और* की जगह बराबर *हौर* इस्तेमाल हुआ है, यथा—

हुज़ूर बुलाये पान दिये बहोत मान दिये हौर फ़र्माये।
वहाँ सब ख़ाली हौर लबालब है।

स्थानस्थान पर दक्खिनी में अव्ययों के बोलचाल के प्रयोग मिलते हैं। *ज़रूर* शब्द के साथ स्टैंडर्ड हिन्दी में कोई पर-सर्ग नहीं लगाया जाता, पर बोलचाल में उत्तर भारत में से कभी कभी सुन पड़ता है (*ज़रूर से*)। इसी तरह मुल्ला वजही ने *कों* लगाया है--

वहाँ औरत ज़रूर कों बेराज़ होकर मरद कनें सोती।

ऊपर दिए गए विवरण से दो बातें साफ मालूम होती हैं। एक तो यह कि इस साहित्यिक दक्खिनी में रूपों की विभिन्नता

परिणाम है जो कई बोलियों का सम्मिश्रण जतलाती है।-*सी*, वाले भविष्यकाल के रूप पंजाबी के से लगते हैं, पर इनकी निस्बत *-गा गी* रूप

ही अधिक हैं जो खड़ी बोली के ही निजी हैं। परसर्गों में से *केरा*, *केरी* तथा अपेक्षित स्त्रीलिङ्ग के स्थान पर पुंलिङ्ग का प्रयोग पूरबी-पन का द्योतक है, पर ऐसे प्रयोग कम ही हैं।-*आँ* में अन्त होने वाले, संज्ञाओं के बहुवचन के रूप, विशेष रूप से खड़ी बोली से भेद प्रगट करते हैं। पर सभी विभेदों पर सामान्य दृष्टि से

विचार करने से नतीजा यही निकलता है कि दक्खिनी, खड़ी बोली का ही पूर्वकालीन रूप है। प्राचीन साहित्य का अध्ययन करने वाले जानते हैं कि अन्यत्र भी इस तरह का बोली-भेद मिलता है। उदाहरणार्थ पालि भाषा में ही व्याकरण और ध्वनि सम्बन्धी एक-रूपता नहीं है। फिर दक्खिनी में कैसे होती जो आरम्भ-काल में विदेशी ग्रन्थकारों के ही हाथों में रही और जिसने उस समय की अन्य साहित्यिक भाषाओं से नीचे का ही दर्जा पाया था।

अगले व्याख्यान में दक्खिनी के ग्रन्थों की शैली की विवेचना और साहित्य का सिंहावलोकन किया जायगा।

३

शैली तथा साहित्य

शैली

पिछले व्याख्यान में दक्खिनी भाषा पर विचार करते समय देखा गया है कि इसका जो रूप पुराने ग्रन्थों में मिलता है उसमें काफ़ी बोली-भेद है, व्याकरण के रूपों की बहुलता मिलती है और यह नहीं कहा जा सकता कि कोई स्टैंडर्ड रूप प्रचलित था। इसी भाषा की यह रूप-बहुलता आज भी मिलती है पर बोल-चाल में। निज़ाम राज्य की सरकारी भाषा आज स्टैंडर्ड उर्दू है, पर वहाँ के ऊँचे अधिकारी भी दक्खिनी का ही बोल-चाल में प्रयोग करते हैं। उत्तर भारत से गए हुए बटोही को यह उच्चारण और व्याकरण का बोलीपन वहाँ तुरन्त दिखाई पड़ जाता है।

शैली के विचार में प्रधान बात शब्दावली की होती है। दक्खिनी के ग्रन्थों को देखने से पता चलता है कि उनमें अरबी फ़ारसी आदि विदेशी भाषाओं के शब्द बहुत नहीं हैं और निश्चय ही आजकल की उर्दू में जितने मिलते हैं उनसे बहुत कम। यह सच है कि एक ही ग्रन्थकार के दो विभिन्न विषयों के प्रतिपादक ग्रन्थों में ही शब्दावली का भेद पड़ जाता है। दक्खिनी में

शब्दावली

इस्लाम धर्म के प्रचारक (*मीराजुल आशिक़ीन* आदि) ग्रन्थों में अरबी शब्द ज्यादा हैं पर (*सबरस* आदि) कहानी क़िस्से के ग्रन्थों में उतने नहीं । '*क़ुतुब मुश्तरी*' की भूमिका में सम्पादक डा० अब्दुल हक़ लिखते हैं—

"फ़ारसी हिन्दी अल्फ़ाज़ का तनासुब एक और अढ़ाई का पड़ता है और सारी मसनवी का यही हाल है।" (पृ० १८)

इसी तरह ग़वासी की मसनवी *सैफ़ुल्मलूक व बदीउल्जमाल* के सम्पादक लिखते हैं कि—

"ग़वासी के कलाम में हिन्दी अल्फ़ाज़ ज़्यादा पाए जाते हैं।" (पृ० ११)

यही बात समान-रूप से दक्खिनी के अधिकतर ग्रन्थों के बारे में कही जा सकती है। वली 'औरंगाबादी' के दिल्ली आने के पूर्व की कृतियों में देशी शब्द अधिक हैं, दिल्ली से लौटने के बाद की रचनाओं में विदेशी शब्दों की संख्या की मात्रा कुछ अधिक हो गई है। परकालीन ग्रन्थकारों की कृतियों में यह और बढ़ती गई है। कभी कभी तो कोई भी विदेशी शब्द नहीं दिखाई पड़ता ; यह पद्य लीजिए—

बिरागी जो कहाते हैं उसे घरबार करना क्या।
हुई जोगिन जो कोइ पी की उसे संसार करना क्या॥
जो पीवें प्रीत का पानी उसे क्या काम पानी सों।
जो भोजन दुख का करते हैं उसे आधार करना क्या॥

(कुल्लियात वली, पृ० ५५)

दक्खिनी हिन्दी के ये ग्रन्थ फ़ारसी लिपि में लिखे गए।

इस लिपि के कारण भी इन ग्रन्थों में फ़ारसी अरबी आदि विदेशी शब्द ज्यों के त्यों रह गए। बहुधा शब्द का लिखित रूप एक होता है और उच्चारित दूसरा। बहुत सी फ़ारसी अरबी ध्वनियाँ उर्दू लिपि में मौजूद हैं पर उनका उच्चारण दूसरा होता है। *ऐन* (ع) का उच्चारण नहीं होता, पर वह वर्ण लिखने में उपस्थित है। इसी तरह *तोय* (ط) का उच्चारण *ते* (ت) की तरह और *से* (ث) का *सीन* (س) की तरह होता है पर लिखावट में ये वर्ण मिलते हैं।

विदेशी लिपि का प्रभाव

दक्खिनी के ग्रन्थों में आदि-काल में कहीं कहीं अक्षर-विन्यास उच्चारण के अनुकूल मिलता है। मिसाल के लिए मुल्ला वजही के ग्रन्थ *सबरस* में से कुछ शब्द लीजिए—

विदेशी शब्द

	सबरस में रूप	शुद्ध विदेशी रूप
आला	آلا	اعلی
दिक्कद, दिक्कत	دکد، دکت	دقت
तग़ादा	تغادا	تقاضا
नफ़ा	نفا	نفع
वज़ा	وزا	وضع
वाक़ा, वाख़ा	واقا، واعا	واقعہ

सुल्तान मुहम्मद क़ुली क़ुतुबशाह *बकरीद* (بکرید) लिखते हैं, न कि *बक़रीद* (بقرید)।

नीचे कुछ और शब्द दिए जाते हैं, जिनमें अक्षर-विन्यास उच्चारण के अनुसार है। *फ़ारसी* के अन्तिम *ह* के स्थान पर अधिकतर *आ* ही मिलता है—

	ग्रन्थों में पाया गया रूप	शुद्ध रूप
इनाम	اذام	انعام
सात	سات	ساعت
अख़ल	اخل	عقل
अदमीं	ادمیں	آدمی
आरूस	آروس	عروس
अन्देशा	اندیشا	اندیشه
बजीद (ज़िद से)	بجید	بضد
पुख़्ता	پختا	پخته
पुरगम	پرگم	پرغم
बग़ैर	بغر	بغیر
ख़फ़ा	خفا	خفع
नफ़ा	نفا	نفع
सही	سہی، صحی	صحیح
सुबा	صبا	صبح
क़िस्सा	قصا	قصه
खाला	کھالا	خاله
फ़िकरवन्द	فکروند	فکرمند
हुनरवन्द	هنروند	هنرمند
दफ़े	دفے	دفعے
दावन	داون	دامن
मुलाज़ा	ملاذا	ملاحظه
क़ायल	قایل	قائل
दावा	داوا	دعوی
फ़तवा	فتوا	فتوی

चकमक	چکمک	چقماق
जमात	جمات	جماعت
मुलम्मा	ملما	ملمع
ज़िबे	ضبے	ذبح
मना	منا	منع
वस्ताद	وستاد	استاد
ज़ाया	ضایا	ضایع
वखत, बख़्त	وخت، بخت	وقت
कुलुफ़	کلف	قفل
विदा, अल्विदा	ودا، الودا	وداع، الوداع
क़िला	قلا	قلعہ
नामा	ناما	نامہ
बदख़	بدخ	بطخ
नुख़्स	نخس	نقص
मनसा (वली)	منسا	منشا
नज़र	نزر	نظر
बिचारा	بچارا	بےچارہ
यह	یہ	یہ

फ़ारसी अरबी शब्दों के कुछ ऐसे रूप मिले हैं जो आज उर्दू की लिखित भाषा में नहीं मिलते पर जो बोलचाल में अब भी सुनाई पड़ जाते हैं, देखिए—

ज़िन्दगानी, *परेशानगी*, *मेहरवान* (मेह्र्बान), *जागा* (जगह), *सबूरी*, *क़बूल*, *सूरत*, *नज़ीक*, *ख़ाहीन ख़ाही* (खवाम ख़ाह), *जाब* (जवाब), *ख़ार* (ख़वार) *शहनाई* (शाह्नाई), *बलक* (बल्केह्), *अजब* (अजीब), *जनावर* (जानवर) ।

कुछ शब्दों का अक्षर-विन्यास निश्चय ही ग़लत है, जिससे साबित होता है कि लिपिकार अथवा लेखक विदेशी भाषाओं के अच्छे विद्वान न थे, यथा—

पौलाद (फ़ौलाद), *ख़सालत* (खसलत), *ग़िट* (ख़िच), *नाज़ुक* (नाज़ुक), *ख़ज़ीने* (ख़ज़ाने)।

कहीं कहीं छन्द की ज़रूरत के कारण भी शब्द अशुद्ध लिख गए हैं, यथा—

मशारे (मशविरे), *सफ़ा* (सफ़ाई), *सराफ़राज़* (सरफ़राज़), *उस्ता* (वास्ते), *शातीर* (शातिर), *शौ* (शौहर), *हिम* (हिम्मत), *रवीश* (रविश), *ज़हार* (जहर), *शरमँदा* (शर्मिन्दा)

विदेशी संज्ञाओं को लेकर उनसे क्रिया बनाने के कई उदाहरण मिले हैं, जैसे—

फ़ाम (*फ़हम*) से *फ़ामना* = समझना
रंज से *रंजानते* = रंजीदा करते
नवाज़ से *नवाज़ना* = कृपा करना
तलासना = तलाश करना।
गुमना = खोना

ख़र्च से बनी नामधातु के रूप साहित्यिक भाषा में आज नहीं मिलते, पर बोल-चाल में मिलते हैं। उसी तरह दक्खिनी में भी मिले हैं, जैसे—

ख़र्चा जावेगा = ख़र्च किया जायगा।

बख़्श-धातु का एक दीर्घ रूप मालवी बोलियां में मिलता है, वह दक्खिनी में भी मौजूद है—

बख़्शायगा = बख़शेगा।

बाज़ (بعض) का बहुवचन रूप बोल-चाल में मिलता है, वह दक्खिनी में भी मिला है--

बाज़े कहते हैं = कुछ लोग कहते हैं।

कहीं कहीं विचित्र रूप भी दिखाई पड़े हैं। *मुल्क* का बहुवचन *मुमालिक* होता है पर *मुलायक* मिला है।

दक्खिनी के ग्रन्थों में कहीं कहीं विदेशी शब्द को देशी के साथ मिला कर बनाया हुआ समास भी मिलता है, यथा—

गुलबाड़ी = फुलवाड़ी

खुशलखन = सुलक्षण, नेकचलन।

इस विवरण से इतना स्पष्ट है कि विदेशी शब्दों का समावेश उस समय जीती-जागती भाषा में किया गया था और अभिप्राय था उस भाषा में चतुराई से भाव प्रकट करना न कि विदेशी भाषा के रूपों और मुहाविरों को ज्यों का त्यों रखना।

दक्खिनी के ग्रन्थों में भारतीय शब्दों का केवल अनुपात ही अधिक नहीं है, बहुतेरे शब्द तत्सम रूप में मिलते हैं जो आज साहित्यिक उर्दू में मतरूक हैं, देखिए—

भारतीय तत्सम शब्द — *अंग*, *अंगन*, *अखंड*, *अधर*, *अचल*, *अम्बर*, *अन्तर*, *अपार*, *अवतार* (उच्च कोटि का), *आदि*, *आधार*, *अनन्त*, *उपकार*, *उपचार*, *अपरूप* (अद्वितीय), *उत्तम*, *काच*, *काल*, *कला*, *कुच*, *कुजल*, *कुन्तल*, *गगन*, *गज*, *गम्भीर*, *मास*, *घन*, *कुल*, *कुन्द*, *तुरंग*, *दानी*, *दिक*, *धरित्री*, *धनी*, *धीर*, *चतुर*, *दल*, *देह*, *नारी*, *पवन*, *वर* (श्रेष्ठ), *परमेश*, *पुरुष*, *वस्तु*, *भाव* (इज़्ज़त), *भानु*, *मान*, *रोमावलि*, *वादी*, *सन्मुख*, *सूर*, *सेवक*, *हस्ति* (हाथी), *तेज* (शान व

शौकत), दार (द्वारा = घर), दया, दिवाकर, संभोग, स्वाद, सम, संग्राम, सुरंग (अच्छे रंग का)।

तद्भव शब्द

दक्खिनी हिन्दी के व्याकरण पर विचार करते समय ऊपर कहा जा चुका है कि इन ग्रन्थों में हिन्दी की बोलियों का रूप-बाहुल्य मिलता है। इसी तरह शब्दावली में भी रूप बाहुल्य हैं। एक ही शब्द तत्सम (संस्कृत अथवा फ़ारसी-अरबी) रूप में एक जगह मिलता है तो दूसरी जगह तद्भव रूप अनेक हैं। कुछ उदाहरण देखिए—

अपछरी अछरी (अप्सरा), अदिक अदिख अधिक, अदरमान (आदर मान), अस्तोत (स्तुति), अमत (मत-धर्म-हीन), अम्रीत (अमृत), उलास उलासा (उल्लास), आँब (आम), अवकल (बेकल), अलक (अलख, अलक्ष्य), अँधारा (अँधेरा), अन्मनाना (अन्यमनस्क होना), उरगन (उडुगण—तारे), ऊकल (विकल), औलखन (अलक्षण), कुजात (विजाति), छन्द (उपाय), जगावना (जगाना), जालना (जलाना), तिर्गुन, तिर्लोक, दरसनी (दर्शन करनेवाला), तत्ता (गरम), दीवा दिवा (दीप), दिपाना (रोशन करना), दुकाल (दुष्काल), दुन्दी (दुश्मन), दिश्त (दृष्टि), कश्त (कष्ट), धरत धरती धरित्री, धाना (दौड़ना), अभाल (बादल, अभ्र), घड़ी करना (तह करना), घिउ (घी), जिउ (जी, जीव), चितारा (चितेरा, चित्रकार), चूला (चूल्हा), झर (स्रोत, झरना), नवाना (झुकना, झुकाना), नँह (नख), नित (नित्य), निरासा, निर्जीव, निर्मोल, नेम धरम (नियम धर्म), पत (इज्ज़त), पतियारा (विश्वास), पन्त (पन्थ), परते (सामर्थ्य), परदल, परकाज, परदुख, परविभंजन, पहिराना (पहनाना), घात (प्रकार, तरह), सुलगा (सुलग्न,

मानूस), उमस (उत्साह), उसास (साँस), रूस (रोष), औघरम (बेघ-रम), रेल छेल (रेल पेल), पायक (दूत), बाईं (वापी, कुवाँ), नवल नवा नवी (नया नई), अगला (बढ़िया), बाड़ा (मुहल्ला), खासा (अच्छा), पेखना (देखना), फोकट, बाट, बाट-पाड़ (बटमार), बाट-सार (मुसाफ़िर), बाव बाउ (वायु), विचित्तर (चित्रकार), बिसरात (विस्मृति), बेगि बेगी (जल्दी), भान (बहिन), भिआव (विवाह), भुअंक भुअंग (भुजङ्ग), भुइँ (भूमि), म्याने मने (बीच में), मतना (मत्त होना), मया (प्रेम), मनहर (मनोहर), मूड़ी (सिर), यदी (यदि), यकंग (एकांग), रगत (रक्त), रज (रजोगुण, जोश), रन खाम (रण खंभ), रसरी, राकस (राक्षस), रुच रुछ (रुचि इच्छा, चमक), रूत (ऋतु), रैन (रजनी), रीज (रीझ-इच्छा), न्हाटना न्हासना (नाश करना), न्हनपन (बचपन), बिसलाना (बैठाना), बैसना (बैठना), पैसना (घुसना), उत-राई (बदला), अच्चर अच्छर (अक्षर), अबूझ, अरत (अर्थ); उपासी (भूखा), अगिन (अग्नि), नीहचह (निश्चय), छब (छवि), माटी (मिट्टी), ससा (शश), संघाती (संघी), सीस (सिर)।

विकृत शब्द

जिस तरह फ़ारसी अरबी शब्दों के रूप विकृत अवस्था में मिलते हैं उसी तरह भारतीय शब्दों के भी यथा—

म्हाड़ी (मढ़ी), मंधिर (मन्दिर), सिंघार (सिंगार), बढ़ाई (बढ़ई), लुब्दाइया (लुभाया), चिनगी (चिनगारी), सैंसार (संसार), पुन (पुण्य), परधान (प्रधान), समुद (समुद्र), हत हस्त (हाथ), घाबरा (घबड़ाया), धीर (धीरज), सुना (सोना), सुन्नार (सुनार), रींच (रीछ),

सुल (शूल), *वरौं बेरौं* (बेला-समय), *कँथा* (कथा), *सजान* (सजन), *घास* (घास), *हड्ड* (हड्डी), *हंडी* (हाँडी), *सुघर* (सुघर), *सोरेज* (सूरज), *देस* (दिवस), *डीग* (डग—क़दम), *सकत* (शक्ति), *सोरात* (स्वार्थ), *खम* (खंभ), *घरदार* (घर-बार), *लत* (लात), *सगट* (सकल) ।

कुछ क्रिया-शब्द जो साहित्यिक शैली में हिन्दी में नहीं नए क्रिया-शब्द मिलते, दक्खिनी में मौजूद हैं, जैसे—

उचाना (ऊपर उठाना)
दिसना (दिखाई देना)
हेरना (खोजना)
सारना (प्रयोग में लाना)
सादना (प्राप्त करना)
सरना (पूरा होना)
सपड़ना (बनना)
लूड़ना (चाहना)
लाना (लगाना)
निपचाना नुपचाना (पैदा करना)
चितरना (चित्रित करना)
हँकारना (निकालना)
पाड़ना (डालना)
मेदना (पसन्द करना)
गमना (बीतना, चलना), *गमाना* (बिताना)
चीन्त्या (सोचा)
रोलना (फैलाना)
जीउना (जीना)

माना (समाना)

हम तुम होना (बराबरी करना)

हुदरना (हिलना)

निझाना (देखना)

सोसना (सहना)

दक्खिनी के ग्रन्थों में बहुत से ऐसे शब्द हैं जो उत्तर भारत की साहित्यिक हिन्दी में क्या, बोलचाल में भी नहीं मिलते।

अपरिचित शब्द

इनमें से कुछ आर्य-भाषा परिवार के हैं, पर कुछ अवश्य द्राविड़ या मुंडा परिवार की भाषाओं से लिए हुए जान पड़ते हैं। नीचे थोड़े से ऐसे शब्दों की सूची दी जाती है।

अनाचती (अनजाने)

अँपड़ना (पहुँचना), *अँपाड़ना* (पहुँचाना)

अंझू (आँसू)

अवा सवा (ऐरा ग़ैरा)

अपाड़ना (निकालना)

अपटना (बिगड़ना)

अरडावना (चिल्लाना)

अड़वाट (उन्मार्ग)

अड़नाँव (उपनाम)

असंड (छल कपट)

अपंग (बहुत)

आटा, आट (मुश्किल, आफ़त)

उभाल (छलांग, बादल)

उधान (ज्वार भाटा)

औघूत (बहादुर)

एलाड़ (इधर)

कला (चीख पुकार)

काकलोर (लालच)

कौंद (दीवार)

कोड़ (मूर्ख)

कौलियाँ (गीदड़)

चाड़ (सदमा)

चोड़ (हानि)

झल (ईर्ष्या)

झाड़ (वृक्ष)

झाँप (छलांग)

झाल (छलांग)

ठार, ठहार (जगह)

दड़ी मारना (चुपचाप बैठे रहना)

दाट (सख्त)

घाड़ (मुसीबत)

घनियारा (धोकेबाज़)

नबतर (बहुत बुरा)

पेलाड़ (दूर)

माक (माणिक्य)

रोजीट (शासन)

मूप (नक़्शा)

रावाँ, रानवाँ (तोता)

लहुवा (तलवार)

सौंदी (पागल)

हेड़ा (मांस)

जम (हमेशा)

खो (गड्ढा)

बेकटर, बेकड़ (कठोर)

रीस (ईष्या)

लुहाटी (कोयला ?)

चँधोरी (चोटी)

बूँट (अंगुल)

कुँवल (बड़ा)

पाच (जाला)

नीट (दोस्त)

बलबलिया (खुशामदी)

नन्हवाद (बच्चा)।

घेर (तरफ़)।

रास (ठीक)।

डोसा (बुड्ढा)।

इनके अलावा अन्य भारतीय भाषाओं के प्रत्यय भी लिए गए हैं, जैसे ये शब्द—

तैरालू (तैरने वाला)

डरालू (डरने वाला)

घरघालू (घर बर्बाद करने वाला)

उतारू (तैयार)।

शब्दावली के द्वारा भाषा का रूप बदल जाता है। हिन्दी

और उर्दू के वर्तमान स्वरूप में जो भेद है, वह अधिकतर इसी पर निर्भर है। पर शब्दावली के अतिरिक्त

व्याकरण-रूप

व्याकरण-रूपों पर भी भाषा का स्वरूप आश्रित है। यदि विदेशी शब्दों को देशी व्याकरण-रूप दे दिए जायँ तो वे शब्द स्वदेशी शब्दों में घुल-मिल कर कालान्तर में स्वदेशी से लगने लगते हैं और जनता को भेद नहीं मालूम होता। अँगरेज़ी का *स्टेशन* शब्द हिन्दी में आ गया है। उसका हिन्दी रूप *टेसन* (अवधी *टेसनि*, *टेसनिया*) है और उसका बहुवचन *टेसनें* (अवधी *टेसनिन*, *टेसनी*) है। अँगरेज़ी पढ़े-लिखे हिन्दी भाषी *स्टेशन* और बहुवचन में *स्टेशंस* बोलकर इस शब्द के स्वदेशी हो जाने में बाधा डालते हैं।

ऊपर बताया जा चुका है कि दक्खिनी के ग्रन्थकारों ने विदेशी शब्दों को लिया तो है पर उनमें बहुत जगहों पर स्वदेशी ध्वनियों को अपरिचित विदेशी ध्वनियों के स्थान पर रख दिया है: *बकरीद*, *तगादा* आदि उदाहरण हैं। इसी तरह बहुवचन बनाने में भी स्वदेशी प्रत्ययों को अपनाया है न कि अरबी के वज़न पर बहुवचन बनाकर शब्दों को मोअर्रब किया है। फ़ारसी संज्ञा अथवा विशेषण लेकर उनसे क्रियाएँ हिन्दी के नियमों के अनुकूल बनाई हैं। इनके उदाहरण ऊपर दिए गए हैं।

कभी कभी चिर-परिचित और परम्परागत एक-आध शब्द से ही पद्य की शकल भारतीय हो गई है। *महबूब* या *माशूक़* के लिए *लालन* शब्द ऐसा है। इसका प्रयोग इन दक्खिनी ग्रन्थों में बराबर मिलता है। इसी तरह *लौन* (लावण्य) भी इन ग्रन्थों में प्रयोग में आया है।

शब्दावली और व्याकरण-रूपों के अतिरिक्त अन्य परम्पराएँ भी हर देश में रहती हैं। उदाहरण के लिए भारत में किसी को मनाने के लिए अथवा आदर-मान दिखाने के लिए पैर छूना, पैर पड़ना, पैर दाबना बराबर ग्रन्थों में मिलता है। कैकेयी जब दशरथ से नाराज़ हुई तो वाल्मीकि ने दशरथ के मुँह से कहलवाया—

परम्परा-निर्वाह

स्पृशामि चरणावपि ते प्रसीद मे।

(मुझ पर प्रसन्न हो जाओ, तुम्हारे चरण छूता हूँ।)

कालिदास की शकुन्तला को मनाने के लिए दुष्यन्त कहते हैं—

संवाहयामि चरणावुत पद्मताम्रौ।

(या तुम्हें प्रसन्न करने के लिए तुम्हारे पाँव दबाता हूँ।)

प्रसन्न करने के लिए पाँव पड़ने का यह मुहाविरा कई ग्रन्थों में दक्खिनी में मिला है, जो सर्वथा भारतीय पुट है।

वली के ये दो पद्य देखिए जिनमें भारतीय अलंकारों और पान खाने की परम्परा को किस प्रकार साहित्य में अमर किया गया है—

यह नैन तेरे मुझको दिसें जंजाली।
और कान में बाला के नजिक यह बाली ॥

....

करता हूं जों सुपारी कथई हैं हाय जिसके।
करने कों दिल का चूना आता है पान खाकर ॥

प्रत्येक देश में कुछ कवि-सम्प्रदाय विकसित हो जाते हैं, जैसे फ़ारसी में गुल व बुलबुल का, भारत में कमल और भौंरे का तथा चन्द्र और चकोर

कवि-सम्प्रदाय

का। दक्खिनी के ग्रन्थों में भारतीय कवि-सम्प्रदायों का बहुधा प्रयोग मिलता है, उर्दू में वह वहिष्कृत सा है। वली के ये पद्य देखिए—

> बिरह के बाग़ मे दे आब दारी।
> हमेशा रख झड़ी नैनां की जारी॥
> कि खुरशेदे नबूअत की मदद में।
> कँवल का दिल खिला सीनः की दह में॥

दक्खिनी के एक कवि की यह उक्ति लीजिए—

> अगर नैं है आशिक़ चकोर चाँद का।
> तो रातौं को वो क्या सबब जागता॥

कवि-सम्प्रदायों से अधिक प्रभाव डालने वाले प्राचीन कथानकों के उल्लेख होते हैं। भारतीय परम्परा में सीता की सी पतिपरायणता और चरित्र-साधुता, राम की सी कर्तव्य-निष्ठा तथा हनुमान की सी स्वामि-भक्ति अन्यत्र नहीं दिखती। उर्दू के ग्रन्थों में इस भारतीय पुट का सर्वथा अभाव मिलता है। पर दक्खिनी के ग्रन्थों में ऐसा नहीं है। यद्यपि अधिकांश ग्रन्थ फ़ारसी अरबी के ग्रन्थों के अनुवाद हैं या उनके प्रभाव से लिखे हुए, तथापि राम, सिया (सीता), हनुवन्त का उल्लेख इन ग्रन्थों में मिल जाता है। इसी तरह भारतीय नदियों, पर्वतों आदि का वर्णन और उनसे दी हुई उपमाएँ मिलती हैं। वली ने उज्जैन के वर्णन में सिप्रा नदी का सुन्दर वर्णन दिया है।

प्रेयसी का चित्रण

भारतीय परम्परा में प्रियतम-प्रेयसी का भेद और वर्णन स्पष्ट है। पुरुष की प्रेम-पात्र स्त्री और स्त्री का प्रेम-भाजन पुरुष यह भारतीय परम्परा समस्त भारतीय साहित्य में अक्षुण्ण मिलती है।

दक्खिनी के बहुतेरे ग्रन्थों में यही धारा मिलती है। मुहम्मद क़ुली क़ुतुब शाह ने अपनी प्रत्येक प्रेयसी पर कविता लिखी है। वली के ग्रन्थ में भी उनके उत्तर भारत में यात्रा करने के पहले के पद्यों में भी वली का माशूक़ स्त्री ही है। यह कविता देखिए—

मत ग़ुस्से के शोले सों जलते कों जलाती जा।
टुक मेहर के पानी सों यह आग बुझाती जा॥
तुझ चाल की क़ीमत सों नहीं दिल है मेरा वाक़िफ़।
ऐ नाज़ भरी चंचल टुक भाव बताती जा॥
इस रैन अँधेरी में मत भूल पड़ूँ तिस सों।
टुक पाँव के बिछुवों की आवाज़ सुनाती जा॥
मुझ दिल के कबूतर कों पकड़ा है तेरी लट ने।
यह काम धरम का है टुक इसको छुड़ाती जा॥
तुझ मुख की परस्तिश में गई उम्र मेरी सारी।
ऐ बुत की पुजनहारी इस बुत को पुजाती जा॥
तुझ इश्क़ में जलजल कर सब तन को किया काजल।
यह रोशनी अफ़ज़ा है आँखें को लगाती जा॥
तुझ इश्क़ में दिल चलकर जोगी की लिया सूरत।
एक बार अरे मोहन छाती सों लगाती जा॥
तुझ घर की तरफ़ सुन्दर आता है वली दायम।
मुश्ताक़ है दर्शन का टुक दर्स दिखाती जा॥

वली के दिल्ली से लौटने पर यह वर्णन-क्रम बदल गया और कवियों का माशूक़ पुलिंग में चित्रित होने लगा। दिल्ली में वली की अच्छी क़दर हुई। उनके प्रभाव से दिल्ली-वालों ने फ़ारसी छोड़कर हिन्दवी अपनाई। मीर का यह शेर देखिए—

परिणाम

ख़ूगर नहीं कुछ यूँही हम रेख़्तः गोई के।
माशूक़ जो था अपना बाशिन्दः दकिन का था॥

एक अन्य कवि ने कहा—

वली पर जो सख़ुन लावे उसे शैतान कहते हैं।

इस तरह वली को हर प्रकार से आदर मान मिला। पर उन पर भी उत्तर भारत की दूषित फ़ारसी परम्परा का ऐसा प्रभाव पड़ा कि न केवल प्रेयसी का वर्णन ही प्रकृति-विरुद्ध हो गया बल्कि फ़ारसी-अरबी की शब्दावली का अनुपात भी बढ़ता गया। धीरे-धीरे वली के बाद के दक्खिनी साहित्य की प्रायः वही शकल हो गई जो उर्दू की है। दक्खिनी इस प्रकार अपना भारतीय पुट सर्वांश में खो बैठी।

साहित्य

प्रथम व्याख्यान में दक्खिनी में साहित्य-निर्माण का उल्लेख (पृ० ३५) करते समय यह बताया गया है कि दक्खिनी के पहले ग्रन्थकार ख़्वाजा बन्दानवाज़ गेसूदराज़ सैयद मुहम्मद हुसेनी (१३१८-१४२२ ई०) माने जाते हैं। इनका बचपन दक्खिन में बीता था इस लिए स्वाभाविक ही था कि दक्खिनी भाषा का यथेष्ट प्रभाव इन पर पड़ा हो। इनके बुढ़ापे के अन्तिम बीस पच्चीस साल भी दक्खिन में ही बीते। अच्छे फ़क़ीर थे। मुस्लिम धर्म का प्रचार इनका उद्देश्य था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए इन्होंने कई छोटी-छोटी पुस्तकें लिखीं, जिनमें से एक प्रकाशित हो चुकी है। यह गद्य में है। सैयद मुहम्मद हुसेनी के नाम से कुछ पद्य भी है पर यह संदिग्ध है कि उनका लिखा है। दक्खिनी का पहला कवि निज़ामी था जो बहमनी सुल्तान अहमद

शाह तृतीय के शासन-काल (१४६०-६२ ई०) में मौजूद था। इस प्रकार गद्य और पद्य दोनों की धाराएँ १४वीं, १५वीं शताब्दी ई० में प्रारम्भ हुईं और दोनों जारी रहीं।

गद्य के ग्रन्थों में दो तरह का साहित्य है, एक इस्लाम धर्म प्रचार-सम्बन्धी और दूसरा तसव्वुफ़ का। धर्मप्रचार-सम्बन्धी ग्रन्थ प्रायः फ़ारसी के ग्रन्थों के अनुवाद हैं। ये धर्म की दृष्टि से महत्त्व के हैं, भाषा के विकास के अध्ययन के लिए भी उपयोगी हैं पर साहित्यिक गुणों की दृष्टि से बहुत काम के नहीं हैं।

गद्य

मौलाना अब्दुल्ला ने १६२२ ई० में *एहकामुलसल्वाह* लिखा। यह फ़ारसी के ग्रन्थ का अनुवाद है। इसमें नमाज़ कैसे और कब पढ़नी चाहिए और एकाग्र होकर पढ़नी चाहिए इत्यादि बातों का उपदेश है। इसी तरह के अन्य ग्रन्थों के भी अनुवाद दक्खिनी में किए गए।

तसव्वुफ़ के ग्रन्थों की संख्या काफ़ी बड़ी है। अधिकांश में कथा-कहानियों के माध्यम से दर्शन और आचार-शास्त्र के तत्त्व समझाए गए हैं। प्रमुख ग्रन्थ मुल्ला वजही का *सबरस* है। यह ई० सन् १६३५ में रचा गया। यह ग्रन्थ मौलवी डा० अब्दुल हक़ ने १९३२ ई० में सम्पादित कर अंजुमन तरक्क़ी उर्दू, हैदराबाद से प्रकाशित कराया। इनकी भूमिका से स्पष्ट है कि वजही इसके मौलिक ग्रन्थकार नहीं हैं। मूल ग्रन्थ फ़ारसी में है। फ़ातही ने *दस्तूर उश्शाक़* नाम की एक मसनवी फ़ारसी में लिखी थी। इसमें पाँच हज़ार पद्य थे। उसके बाद दो ग्रन्थ और उसी विषय को लेकर लिखे गए—*शबिस्ताने खयाल* और *हुस्नो दिल*। *हुस्नो दिल* गद्य में था। यह बहुत लोकप्रिय हुआ। इसीको आधार

मानकर वजही ने सबरस हिन्दी में लिखा। कहानी का संक्षेप भूमिका के पृ० १४-३४ पर सम्पादक ने दे दिया है। अक़्ल पश्चिम का बादशाह था और इश्क़ पूर्व दिशा का। हुस्न इश्क़ की बेटी है और दिल अक़्ल का लड़का। बेटा जब सयाना हुआ तो अक़्ल ने उसे शहर तन (शरीर) का वली बना दिया। दिल आबेहयात (जीवन-रस) की तलाश में निकल पड़ता है। फिरते फिरते वह हुस्न के देश पहुँचा। बहुत लड़ाई झगड़े हुए, अन्त में दिल और हुस्न का विवाह हो गया और दोनों ने सुख से जीवन व्यतीत किया। अक़्ल और इश्क़ की लड़ाई सनातन है। कहानी में बहुत से अन्य पात्र आते हैं—नज़र, ख़याल, रक़ीब, हिम्मत आदि आदि। कहानी बड़ी (३०० पन्ने की) है, रोचक भी बहुत है।

साहित्यिक दृष्टि से वजही की कृति आदरणीय है। दो उदाहरण उसके ग्रन्थ से आगे दिए जायँगे उस से स्पष्ट हो जायगा कि इंशा अल्ला आदि परवर्ती गद्य-लेखकों की शैली पर उसके ग्रन्थ का प्रभाव पड़ा होगा। वजही ने स्वयं फ़ताही के ग्रन्थ से सामग्री ली है और खेद है कि कहीं मूल ग्रन्थ या ग्रंथ-कार का उल्लेख नहीं किया, न अपनी कृतज्ञता प्रकट की। बीच-बीच में उसने अपने पद्य डाल दिए हैं, जहाँ तहाँ उपदेश भी भर दिए हैं जो मूल ग्रन्थों में नहीं हैं। अपनी तारीफ़ वह स्वयं इन शब्दों में करता है—

"आज लगन कोई इस जहान में हिन्दोस्तान में हिन्दी ज़बान सों इस लताफ़त इस छन्दां सों नज़्म हौर नस्र मिला कर गुला कर नहीं बोल्या।"

तसव्वुफ़ के अन्य ग्रंथों में मीरांजी हुस्न ख़ुदानुमा के शरह

तमहीद हमदानी, बुर्हानुद्दीन औलिया के *शुमायलुल्-इत्क़िया*, शाह बुर्हानुद्दीन जानिम के *हश्त मसायल*, अमीनुद्दीन आला के *गंज मख़फ़ी*, शाह वलीउल्ला क़ादिरी के *मारफ़तुस्सलूक* का तथा *तूतीनामा* (संक्षेप), *इख़लाक़े हिन्दी* आदि का उल्लेख किया जा सकता है। इनमें से दो एक ही मौलिक हैं, शेष सब फ़ारसी अरबी के ग्रन्थों के अनुवाद या संक्षिप्त हिन्दी (दक्खिनी) रूपान्तर।

गद्य के ग्रंथों में दक्खिनी के वे रिसाले भी हैं जो गणित, रसायनशास्त्र आदि पर उन्नीसवीं ई० शती के पूर्वार्ध में हैदराबाद में लिखाए गए। यह वैज्ञानिक साहित्य उस समय बड़े काम का था। इधर बीसवीं शती के पूर्वार्ध में निज़ाम साहब की संरक्षा में यूरोपीय विद्वानों के भिन्न-भिन्न विषयों के ग्रन्थों का अनुवाद उर्दू में कराया गया और इन्हीं के कारण उस्मानिया युनिवर्सिटी में उर्दू के माध्यम से उच्चतम शिक्षा का प्रबन्ध हो सका। खेद की बात केवल यह है कि पारिभाषिक शब्दावली अरबी के मूल पर खड़ी की गई जो भारतवर्ष में कभी चल न सकेगी।

पद्य

जैसा ऊपर बताया जा चुका है निज़ामी की मसनवी *कदम राव व पदम* दक्खिनी हिन्दी की प्रथम कविता है। दकिन में उर्दू के लेखक श्री नसीरुद्दीन हाशिमी इस मसनवी के बारे में लिखते हैं—

"हस्त रवाज क़दीम इसमें अरबी और फ़ारसी के बजाय हिन्दी अल्फ़ाज़ ज्यादा हैं।

इसकी ज़बान इस क़दर मुश्किल है कि इसका समझना दिक्क़तत-तलब है।"

यह किताब अभी तक प्रकाशित नहीं हुई है। डा० अब्दुल हक़ इसका सम्पादन कर रहे हैं, ऐसा सुना है। भाषा के जो नमूने देखने को मिले हैं उनसे यह हिन्दी के आदि चरित-काव्यों में गिनी जानी चाहिए। जायसी की पद्मावत की सी भाषा है। अच्छा हो कि एकेडमी या सम्मेलन इसका एक सुसम्पादित संस्करण देवनागरी में प्रकाशित करे।

दक्खिनी में अन्य बहुत सी मसनवियां लिखी गईं। इनमें से कुछ फ़ारसी के ग्रंथों के अनुवादित रूप हैं। उदाहरणार्थ ग़वासी की मसनवी *सैफ़ुल्मलूक व बदीउज्जमाल* फ़ारसी क़िस्सा का पद्य-बन्ध अनुवाद है जो १६२५ ई० में लिखा गया और उन्हीं की दूसरी कृति *तूतीनामा* (१६३९ ई०) ज़ियाउद्दीन बख़्शी के फ़ारसी ग्रंथ *तूतीनामा* का अनुवाद है। दूसरी ओर वजही की *क़ुतुब मुश्तरी* (१६०९ ई०) मौलिक रचना है। इब्न निशाती की मसनवी *फूलबन* (१६५५ ई०) फ़ारसी क़िस्सा *बिसातीन* का अनुवाद है।

पद्मावती और रत्नसेन की कहानी पर भी दक्खिनी में *पद्मावत* नाम की मसनवी बनी। इस *पद्मावत* का लेखक ग़ुलाम अली है। हाशिमी ने इसका उल्लेख किया है और रचना-काल १६८० ई० बताया है। जो नमूने उन्होंने दिए हैं उनसे भाषा दक्खिनी और हिन्दी शब्दों से भरी जान पड़ती है। डा० क़ादिरी (ज़ोर) ने जिस *पद्मावत* का उल्लेख *तज़क़रह उर्दू मख़तूतात* में किया है वह बाद की कोई दूसरी रचना है।

मसनवियों में अधिकतर प्रेम के क़िस्से कहानियाँ हैं। मुक़ीमी की मसनवी *चन्दर बदन व महियार* में एक मुसलमान युवा महियार (मुहीउद्दीन) और हिन्दू युवती चन्दरबदन का क़िस्सा

दिया है। रचनाकाल १६४० ई० है। नायक जब नायिका के पास जाता है उस समय का वर्णन सुनिए—

नज़िक जाको बोल्या कि सुन ऐ परी।
मुंजे तुज लताफ़त दिवाना करी॥
दिवाना हूँ तेरा दिवाने के तईं।
अपस ते न को दूर जाने के तईं॥
धरया आस तेरी निरासी न कर।
जफ़ापुर मुजे तूँ कदासी न कर॥
सो तुज बिन मुजे कोई होना नहीं।
कि बिन जल मछी का सो जीना नहीं॥
केता हूँ तुजे मैं कि ऐ गुन भरी।
तुँ करना एता कुछ मेरी दिलबरी॥
सो यों कह अदब सों तोड़ा कर उने।
धरया सीस उसके क़दम पर उने॥
गिला उस सुना कर उठी बोल यूँ।
समज कुछ अपसकों ऐ बेडौल तूँ॥
हिंदू मैं कहाँ हौर तुरुक तूँ कहाँ।
कहाँ राम सीता मूरक तूँ कहाँ॥
कहाँ मैं चँदरमाँ कहाँ तूँ देवा।
केता क्या मुए तूँ दिवाना हुवा॥
भिड़क बोल उसको वहीं फिर चली।
उठी दिल में आशिक़ के वहँ तिलमिली॥

प्रेमी को प्रेम की ख़ातिर क्या-क्या सहना पड़ता है, क्या-क्या मुसीबतें झेलनी पड़ती हैं और प्रेमिका को भी अपने प्रियतम के लिए क्या-क्या दुःख उठाने पड़ते हैं इन सब का विवरण

इन मसनवियों में भरा पड़ा है। जादू, माया, संग्राम आदि के वर्णनों के साथ-साथ चरित्र-चित्रण भी इन ग्रन्थों में अच्छा मिलता है।

ऊपर उल्लिखित मसनवियों के अलावा अहमद जुनेदी की *माह पैकर* (१६५३ ई०), सेवक का *जंगनामा* (१६८१ ई०), अमीन की *बहराम व हसन बानो*, रुस्तमी का *ख़ाविरनामा* (१६-४६ ई०), नसरती का *गुल्शन इश्क़* (जिसमें कुँवर मनोहर और मदमालती की कथा है), क़ुरैशी की *भोगबल*, क़ाज़ी महमूद बहरी की *मनलगन* (१६९९ ई०), वली वेलूरी की तीन मसनवियाँ (जिनमें से एक में पद्मावती की कथा है), इशरती की तीन मसनवियाँ—*दीपक पतंग*, *चितलगन* और *नेहदर्पन* आदि का नामोल्लेख तो करना चाहिए। समयाभाव से कोई विवरण नहीं दिया जा सकता। सुल्तान इब्राहीम की रचना *नवरस* (१५९६ ई०) का भी उल्लेख करना आवश्यक है। इसकी भाषा में हिन्दी शब्द अधिक हैं और फ़ारसी अरबी कम।

गोलकुण्डा राज्य के क़ुतुबशाही सुल्तान न केवल साहित्य के संरक्षक थे, ख़ुद भी अच्छे साहित्यकार हो गए हैं। मुहम्मद क़ुली (१५८०–१६११ ई०), मुहम्मद क़ुतुबशाह (१६११–२५ ई०), अब्दुल्ला क़ुतुबशाह (१६२५–७२ ई०) और अबुलहसन (१६७२–८६ ई०) चारों सुल्तान अच्छे कवि थे। मुहम्मद क़ुली क़ुतुबशाह की रचनाएँ कुल्लियात के रूप से प्रकाशित हो चुकी हैं। इनको देखकर इस नरेश की साहित्यिक प्रतिभा की प्रशंसा किए बिना नहीं रहा जा सकता। इसने नायिका-वर्णन, ऋतु-वर्णन, मसनवी, ग़ज़ल, रुबाई, मर्सिया सभी लिखे हैं। इसकी रचना के थोड़े से नमूने अन्त में दिए जायँगे।

इन व्याख्यानों में हमने हिन्दी के उस रूप का विवरण देने की कोशिश की है जो आदिकालीन कहा जा सकता है। फ़ारसी लिपि में ही होने के कारण यह हिन्दीवालों को दुर्बोध है। जरूरत है कि इसका कुछ अंश शीघ्र ही देवनागरी लिपि में प्रकाशित होकर विद्वानों के सामने आवे।

मेरे कथन से इतना स्पष्ट हो गया होगा कि यद्यपि हिन्दी की दक्खिनी शाखा के कलाकार प्रायः सभी मुसलमान थे तथापि अर्से तक भाषा में बहुत हद तक उन्होंने भारतीयता निभाई और भावों में भी कुछ हद तक देसीपन क़ायम रक्खा। खेद है कि यह भावना उत्तरोत्तर मिटती गई और भाषा भी हिन्दू मुसलमानों के बीच भेदक बन बैठी! ईश्वर कल्याण करे।

ओ३म् शम्

परिशेष

साहित्य के नमूने

सुल्तान क़ुली क़ुतुबशाह

हम्द

चन्द सूर तेरे नूर थे, निस दिन कों नूरानी किया।
तेरी सिफ़त किन कर सके, तूँ आपी मेरा है जिया॥
तुज नाम मुँज आराम है, मुँज जीव सो तुज नाम है।
सब जग कों तुझ सों काम है, तुज नाम जप माला हुवा॥
तुज याद में जग मोहिया, है जग उपर तेरा मया।
जो जग मँगे सो तूँ दिया, तूँ ही जगत का है दया॥
जीता हूँ तेरी आस थे, आया है रहम आकास थे।
जे कुच मँगूँ तुज पास थे, सो है सो मुँज कों तूँ दिया॥
बहु तिक मया सेती अपुन, दीना क़ुतुब को सब दखिन।
सीसों नबी का नित चरन, जब लग है तन म्याने जिया॥

कुल्लियात, भाग १, पृ० ३

बक़रीद

ख़बर बक़रीद खुशियाँ सेतीं मेरे ताईं ल्याया है।
ख़ुशियाँ ऊपर थे क़ुरबानी होने बक़रीद आया है॥
ए मजलिस ईद देखत ऐश हौर ख़ुशियाँ सेतीं दायम।
अनन्दों राग को आलाप कर बहु गुन सुनाया है॥

गुलाली फूल मुँज मजलिस थे रँग पाकर सुहाते हैं।
कि साक़ी अप नयन प्याले सों मद दे मुँज रिझाया है॥
सहेल्याँ अप सवारयाँ हैं परम कसवत के रंगा सों।
कि बक़रीद आके सब जग में तबल इशरत बजाया है॥
सक्याँ मुज मस्ती क्याँ मात्याँ इश्क़ का खेल मुज सुहता।
जगत ए इश्क़ को देखत अचंभा हो लुभाया है॥
मुँजे चौंधर अनन्दां होर खुशियाँ का गरजना सुहे।
तो मस्ती ईद का सर पग पे रख मोमन मनाया है॥
नबी सिदक़े क़ुतुब शह कों सुहे जम ईद मस्ताना।
कि मेरे सिस उपर दायम चतर शाही सुहाया है॥
कुल्लियात, भाग १, पृ० ११५

बसन्त

बसन्त आया सकी जूँ लाल गाला।
कुसुम चोला ... ...॥
पपीहा गावता है मीठे बैना।
मधुर रस दे अधर फुलका पियाला॥
पियारी होर पिया हत में सु हत ले।
सरोवन में न्हिडे गुल फूल माला॥
कँठी कोयल सरस नावाँ सुनावे।
तनन तन तन तनन तन तन तला ला॥
गरज बादल थे दादुर गीत गावे।
कोयल कूके सुफुल बन के ख़याला॥
सदा सेवा करें ऐसी गुसाईं।
दलिद्दर दूर कर करता निहाला॥

नबी सिद्क़े हुवा क़ुतुब तेरा ज़ीनत।

हुदयाँ सीने में सलता दुःख भाला॥

कुल्लियात, भाग १, पृ० १३६

ठंड काला

हवा आई है ले के भी ठंड काला।

पिया बिन सँताता मदन बाले बाला॥

रहन ना सके मन पिया बाज देखे।

हुवे तन कों सुख जब मिले पीव बाला॥

ए सीतल हवा मुँज गमे ना पिया बिन।

मगर पीव कंठ ला करै मुँज निहाला॥

सजन मुख शमे बाज उजाला न भावे।

भुलाया है मुँज जीव कों ओ उजाला॥

जो रात आवे चँदनी की मुँज कों सतावे।

कि चंदना मुँजे नैं नयन सोज़ लाला॥

मेरे मन को भाता है लालन सो मिलना।

मुझे भाते हैं पीव हत कंठमाला॥

नबी सिद्क़े क़ुतुबा अनन्दाँ सों मिलकर।

अपस साईं सों पीवै जम मद पियाला॥

कुल्लियात, भाग १, पृ० २०८

प्यारी

सक्याँ आ मना ल्याओ प्यारी कों आज।

कि सब छंद भरियाँ का अहे सीस ताज॥

कहो यों कि मंदिर कों बहुलेब सों।

सँवारे बले ना गमे तुज बाज॥

मदन आ सँताता है गर ग्यान कों।

करो दाद अपीं आ तुम्हारा है राज॥

अजायब है किस्वत तुमन हुस्न की।
कि उस्ये सुहाता है उशवियाँ का साज ॥
तूँ खूबाँ का है रूप मैं पादशाह।
तो ल्याये हैं सब तेरे तैं नेह खिराज ॥
तुमन मुख का नूर जब देखूँ मैं।
ओ एक झन मुँजे सौ बरस का है काज ॥
नबी सिदके कुतुबा थे मजलिस सदा।
सुहाता है जों हुस्न सों मुल्क लाज ॥

कुल्लियात, भाग १, पृ० २३१

छबीली

छबीली सों लग्या है मन हमारा।
कि उस बिन नहीं हमन एक तिल करारा ॥
सबूरी कों नहीं है ठार दिल में।
सबूरी क्यूँ करे सो करनहारा ॥
अलक फाँसी सों पंखी जिव पकड़ने।
दिखाई गाल ऊपर तिल का चारा ॥
बसे मन में सो इसके खयाल निस दिन।
नहीं इस खयाल बिन मुँज मन में ठारा ॥
नयन बहरी छोड़ी सूके डोरी सों।
करे चंचल पँखी दिल कों शिकारा ॥
मया करना करे माशूक़ अपे हो।
कहो ना क्या करे आशिक़ बिचारा ॥
नबी सिदके कुतुब आशिक़ है तेरा।
सदा मिल अछ न हो एँक तिल भी न्यारा ॥

कुल्लियात, भाग १, पृ० २४७

सुन्दर

चंद्रमुख तुज, लाल लब हैं, दसन जूँ तेर तारे हैं।
कहो यह चाँद काँ का है किस असमाँ थे उतारे हैं॥
अगर यह चाँद इस असमाँ का कहूँ जग तो क़बूलेँ क्यों।
समाँ के चाँद के मुख में कौन देख्या जो तारे हैं॥
सुरज चँद सों सुँधर मुखकों दिए तशबीह सब शायर।
वले पूँछूँ जो मुझको तो उस अंगे ओ बिचारे हैं॥
कहीं देखे करश्मा कर वो सुन्दर नाज़नीं मुँज को।
तो उस नैनाँ के झलकारे झलकते जों कटारे हैं॥
समा आ बाज़ के ऊपर हदफ़ सो सूर करना वो।
भवाँ के क़ौस सों तारे के नैना तीर मारे हैं॥
सूरज हौर चाँद के करनाँ झलकते सो दिसें मुज यों।
कि ज्यूँ मँगते सुँधर कन ओ गदा हो हत पसारे हैं॥
ऐसी सुन्दर कों पाया हूँ ख़ुदा के रहम थे क़ुतुबा।
जो हूराँ हौर मलक देख कर हुए हैरान सारे हैं॥

कुल्लियात, भाग १, पृ० २७४-५

नक़शए विसाल

ऐ नार मेरे नैन कों दे आपना दीदार ऐश।
सरवन भी तपते हैं मेरे इनकों भी दे गुफ़्तार ऐश॥
मुँज नाक धन तुज नाक थे दम बास का धरता हवस।
दम बास देकर तूँ उसे दायम दिए आपार ऐश॥
तुज दुर अधर तिसमें नबात अम्रीत भर।
मेरे अधर पर धर अधर मँगता हूँ मैं आसार ऐश॥
तुज रुख़ सेती मुँज रुख़ अहे नहीं इस थे रुख़ फ़रंख़ कहीं।
रुख़ सों मिला रुख़ कों कि है रुख़सार कों रुख़सार ऐश॥

मुँज कंठ धन तुज कंठ की कँठ कों बहुत मँगता अहे।
मुँज कंठ सों हम कंठ होवे सूर का झलकार ऐश ॥
बाहाँ मेरयाँ मुश्ताक़ हैं तुज बाँह के गलहार के।
बाहाँ मने बा ना सके तुज बाँह का गलहार ऐश ॥
मुँज हात मँगता है अदिक तुज हात सों मिलने के तईं।
मुँज हात कों अप हात सों करने दे तूं ऐ यार ऐश ॥
भेंटन के दूबट सेती धन कुच कुच्च अपना तौल कर।
हम दोनो कुच सों कुच लगा कुच कुच करें हरबार ऐश ॥
छाती सों छाती एक कर एक जीव हौर एक मीत सों।
तुज नख सेती नख मुंज करने में है ठारे ठार ऐश ॥
मेरे तेरे रोमावली जमना व गङ्गा जूँ मिल अहैं।
रों रों सो मछली होय कर करते हैं तुज गंगधार ऐश ॥
दो नाभी दो भँरि अहैं संग्राम के दरिया मने।
दो मन तेरा दो तीर तिर करते अहैं इस ठार ऐश ॥
तुज मुँज कँमर के कट मने पैरत चकट संपड्या त्रिकट।
इस कट मने करता अहे दायम मदन का भार ऐश ॥
तेरे मेरे पावों सकी जूँ नाग नागिन मिल रहे।
सिदक़े नबी करता क़ुतुब कर्तार थे आपार ऐश ॥

कुल्लियात, भाग १, पृ० ३०३-५

सौगन्ध

शराब हौर इश्क़ बाज़ी बाज मुँज थे ना रह्या जासे।
कि यो दो काम करना कर मैं ले सौगंध खाया हूँ ॥

कुल्लियात, भाग १, पृ० ३०६

प्रेम की कहानी

मुहब्बत की लज्ज़त फ़रिश्त्याँ कों नैं है।
बहुत सई सों मैं सो लज्ज़त पछानी ॥

उसी का है दो जग में जीवना अनन्द सों।

जिने नेह बूझया है सुन ऐ अयानी॥

कुल्लियात, भाग १, पृ० १११

दुनियाय फ़ानी

देवो जग कों भोजन श्रो बख्शिश करो जम।

कि झमकेगा उस नूर थे तुम पिशानी॥

कुल्लियात, भाग १, पृ० ११८

ग़ज़ल

पिया बाज प्याला पिया जाय ना।

पिया बाज एक तिल जिया जाय ना॥

कहे थे पिया बिन सबूरी करूँ।

कह्या जाय अम्मा किया जाय ना॥

नहीं इश्क़ जिस वह बड़ा कूड़ है।

कधीं उससे मिल बैसिया जाय ना॥

कुतुब शह न दे मुज दिवाने को पंद।

दिवाने कों कुच पंद दिया जाय ना॥

कुल्लियात, भाग २, पृ० २१

ग़ज़ल

सुनो मेरी साती पिया हौरों राता।

कि पर सेज पर साईं परसंग गमाता॥

हुवा बे सबब साईं हमना सों करवट।

पकड़ दूती का मन हमन मन सँताता॥

पिया मुज सों यों मिल कि झल खाय दूतिन।

मैं हूँ तेरी माती तू है मेरा माता॥

हिकायत पेरम का नको मुँज थे पूछो।

पिया हात देहों मैं सब मन का भाता॥

मैं भूली हूँ तेरे छँदाँ सों पियारे।
कि खातिर दिखा कर भी फिर फिर मनाता ॥
नहीं अप्ने खातिर मुँजे वस्ल म्याने।
कि हर दम मुँजे बिरह साई डराता ॥
नबी सिदके कुतुबा की माती कती है।
कुतुबशाह सुन्दर गुनी मद्द माता ॥
कुल्लियात, भाग २, पृ० २६

ग़ज़ल

तेरे नेह का मुँज को बिच्छू लड्या।
मेरे सब ही तन में बिस उसका चड्या ॥
मैं आई हूं तुज पास उतारा करन।
तुमीं करने हारा उतारा पियारा ॥
जो देखी मैं उस रूपवंता सजन।
नयन उस सलोनी थे फिर बिस चड्या ॥
कुल्लियात, भाग २, पृ० २७

ग़ज़ल

पियारे गर च मैं तुज बिन नहीं तिल रहने सकती हूँ।
वले लोगाँ के डर थे भी अपस तई कूँड (क़ैद) रखती हूँ ॥
छिपी चोरी कधीं मुद्द (लेकिन) मैं यकट पाती जो हूँ कई तुज।
तो देख तुज मस्त हो ज्यूँ मुहर (मोर) अपस मैं अप ठुमकती हूँ ॥
लगी थी मैं अनाचोती गले तुज फूल सों यक दिन।
तबाँ थे सर के पावाँ लग अझूँ खुशबू महकती हूँ ॥
मेरा बस होय तो आलटपट हो· तुज तई जीन देने में।
कि फ़ुरसत नैं करूँ क्या फ़िक्र इस गुस्सा से पकती हूँ ॥
तुसों मैं बात करती तो थी कूतिन पेट सों उसथे।
न पतिया खावँ कों अपने लखी जागा बिचकती हूँ ॥

दूतिन के झूट कों सच मानता तूँ बूँ तो वाजिब नैं।
वो क्यों कए झूट आ तुज कों बरी जा उस हटकती हूँ ॥
कुतुब शाह मस्त हूँ इस वक्त पर तू बख़्श हो मुंज कों।
न जानूँ क्या कती हूँ मैं न जानूँ क्या फड़कती हूँ ॥

कुल्लियात, भाग २, पृ० १८९-१

ग़ज़ल

कि साईं पास मेरे है कि देखी आज सपने में।
उठी जब हड़बड़ा कर मैं न देखी सेज अपने में ॥
पिया की छाती लगकर मैं रही थी छिपके छाती में।
तहाँ थे युह दुतन काड़े जो मत देखे ये छुपने में।
न बूझूँ तुज पिरित ग्याने मेरा चीनत क्यों बरावेगा।
न मुंज में सबर ना तुज महर जावे कुरन जपने में ॥
तुमारी सों तुमन कों मैं कधीं भी याद आई थी।
तुमन जपने थे निस दिन मैं पुनमचंद जूँ है खपने में ॥
नबी के सिदक़े रे कुतुबा मरथा है इश्क का बाज़ार।
जु कुच मँगता है सौदा गर नफ़ा कुच नैं है तपने में ॥

कुल्लियात, भाग २, पृ० १९६

ग़ज़ल

न बिछड़ूँ साईं ये एक तिल सहेली।
पिया के रंग सों मैं हूँ अकेली ॥
सदा पिउ जोत सों मैं जगमगाती।
पिया नेह की छबि सों हुई हूँ छबीली ॥
सक्याँ प्यारियाँ मने मैं पिउ की प्यारी।
हुई पिउ नेह सों फुल जूँ नवेली ॥

सजन क़द सरो सों मुँज दिल बँधाना।
पलोटी रूक कों जूँ कौली बेली॥
पिया मुतलक़ मुँजे दिल थे बिसारे।
पिया बिन क्यों जिवूँ कह री सहेली॥
सीने थे मुँज पियारी नैं उतारी।
किये रँग रस सेती मुँज नित नवेली॥
नबी सिद्क़े क़ुतुबशह महर सेते।
न छोड़े सेज पर मुँज कद (कभी) यकेली॥

कुल्लियात, भाग २, पृ० २१५

चमन फूल सब बास ख़ुशबू का पाए।
सुघड़ सुन्दरी जब श्रपस केस खोले।

कुल्लियात, भाग २, पृ० २३४

पिया मूरत रखी हूँ यों नयन में।
कि अप पुत्लियाँ को रश्कों नैं दिखाई॥

कुल्लियात, भाग २, पृ० २५६

तेरे दरसन की मैं हूँ साइं माती।
मुजे लावो पिया छाती सों छाती॥
पियारे हात धर संभालो मँजको।
कि तिलतिल दूती तुज माती डराती॥
परेम प्याला पिलावो मुँज कों दम दम।
कि तूँ है दो जगत में मुँज संगाती॥
न राखूँ तुज नयन में राखूँ दिल में।
कि तूं मेरा पियारा जिव का साती॥
पिया के ध्यान सों मैं मस्त हूँ मस्त।
मुँजे बिरह के बैना की (क्यों) सुनाती॥

अगर यक तिल पड़े अंतर पिया सों।
नयन जल सों सपत समदर भराती॥
नबी सिदक़े कहे क़ुतुबा की प्यारी।
रिझा दम दम अधर प्याला पिलाती॥
कुल्लियात, भाग २, पृ० २५८

सहेली मदनलाल मो चित्त भावे।
कि तिल तिल दिल उस छंद पर वारी जावे॥
किसे चित बुलावे किसे रैं जगावे।
किसे दिल तपावे किसे मन रिझावे॥
किसे नेह लगावे किसे मद पिलावे।
किसे रूप दिखावे किसे पेम पिलावे॥
किसे लब चखावे किसे छिप रिझावे।
किसे सेज मनावे किसे गज़क दिलावे॥
किसे अन्न दिखावे किसे तखत सिरावे।
किसे पिक बतावे किसे छबि दिखावे॥
किसे प्रेम लगावे किसे चित भुलावे।
किसे बह (भय) किलावे किसे पाँ दिलावे॥
नबी दास कर आब के तैं पुवावे।
क़ुतुबशह सदा बीर मालाँ गवावे॥
कुल्लियात, भाग २, पृ० २८४-५

रेख़्ती

सुनो एक दो बात साहब हमारी।
सहेलियाँ चतुर मैं हूँ बंदी तुमारी॥
कहो रात किन सात कैते मन में बाताँ।
कि चूता है तुम नैन थे रंग ख़ुमारी॥

नयन चित सों देखी हूँ मैं पँथ तुमारा ।
तुमन बिन मुँजे क्यों गमे रात सारी ॥
कहो साहब येनों है किसकी निशानी ।
खने खन तुमन पर थे जाऊँगी वारी ॥
उनन सात तिल मिलके मुँज कों बिसारे ।
तुमन कौल बेरे कने थी मैं प्यारी ॥
तुमीं साहब हैं कस मनाश्रो भुलाश्रो ।
मो अंदाज़ा क्या तुम कहूँ मैं बिचारी ॥
नबी सिद्क़े बेचारी कों यों न मारो ।
अलह की नज़र थे क़ुतुब की सवाँरी ॥

कुल्लियात, भाग २, पृ० ६०

अली आदिलशाह (शाही)

कोई जाओ कहो मुज साजन सात
मुज नेंह बन्दी तूँ कैता घात ।
दिल मेरा अपने सात किया । मुज बिरहे में दिन रात किया ॥
दिलदारी का ना बात किया । सब बिसरा सुख है हात किया ॥
कए मुज सों ऐसी घात किया । कोई जाओ०
पिउ मूरत देखो सीने में । जब जागो तब रहूँ सपने में ॥
ला दीपक बिरहा अपने में । तन जाए झकझक जीने में ॥
आराम अछे मुज खपने में । कोई जाओ०
तुज याद करतल मलती हूँ । लहू तेल मने दिल तलती हूँ ॥
तन मोमबत्ती हो जलती हूँ । इस जलने सों ना टलती हूँ ॥
सब आयँ बिरह में गुलती हूँ । कोई जाओ०
कोई आओ सँवरे मेरा हाल । पिउ कैसा मुज सों जो कोताल ॥
मैं जगते नित उठ अंजू ढाल । कलपती आँसू मोती माल ॥
मुज यक यक पल है लकलक साल । कोई जाओ०

सब दिग्रस गया है बन ते लड़ते लड़ते। खुट रात गई है पावों पड़ते पड़ते॥

दकिन में उर्दू, पृ० ११९-२०

बुर्हानुद्दीन जानिम

नहीं मुझ सें पीत लगाए मन लेता रे।
अल्ला मुझे आशिक़ अपना तूँ कैता रे॥
अब छोड़ नैन कहूँ मन जावे रे।
मुझ बिरह जली को मत तरसावे रे।
यो जाने तूँ मेरे मन भावे रे।
यो तो शाम सलोना तूँ मेरा रे।
न चले तुझ पर मन्तर टोना रे।
जो कोई चाहिए सो फ़ानी होना रे।
यो तो बिरह अगिन सब दिल लाई रे।
तन फ़ानूस कर हौं दिखलाई रे।
लहू तेल दिया दीपक जलाई रे।
आसे जानिम जीव जाने फ़ानी रे।
जान की आज है मेहमानी रे॥

दकिन में उर्दू, पृ० १२५

वली

बिरागी जो कहाते हैं उसे घर बार करना क्या।
हुई जोगिन जो कोई पी की उसे संसार करना क्या॥
जो पीवे पिर्त का पानी उसे क्या काम पानी सों।
जो भोजन दुख का करते हैं उसे आधार करना क्या॥
सखी तुमना को अर्ज़ानी यह किसवत और क़रीना सब।
दिसे जी सों जो बेज़ार उसे सिंघार करना क्या॥

ख़जालत की गरद अँखवाँ के पानी सों गिलावे में।
बनाने ग़म का घर मुजकों दुजा मेमार करना क्या ॥
नहीं कोई धर्मधारी जो कहे पीतम कों समझा कर।
कि दुखिया कों विछोही सों इता बेज़ार करना क्या ॥
महल दिल का तेरी ख़ातिर बनाया हूं मैं दिल जाँ सों।
जुदाई सों उसे यकबारगी मिस्मार करना क्या ॥
सहेल्याँ जब तलक मुजकों न बोलेंगी वली आकर।
मुझे तब लग किसो सों बात और गुफ़्तार करना क्या ॥

कुल्लियात, पृ० ५५

तेरे बिन मुजकों ऐ साजन तो यो घर बार करना क्या।
अगर तू ना चहे मुजकों तो यो संसार करना क्या ॥
मँदे घर वासों बाहर कर अपस के आप मुशिफ़ हो।
निकारा त्योंछ् बकबक कर इता बेज़ार करना क्या ॥
अगे जब सों न आने की थी मनसा मन में तुमना के।
तो मुझ से दुख भरे सों फिर झूटा इक़रार करना क्या ॥
पतियारा नहीं तेरे कहे का तो चुप हैरान करता है।
जो मन में निहीछः मिलने का तो फिर तकरार करना क्या ॥
तेरे आने की बाट ऊपर बिछाया हूँ अँखाँ अपनी।
तो बेगी आ कि तुझ बिन मुजको यह घर बार करना क्या ॥
तुम्हीं मिलने सां गर अपने सुहागिन ना करोगे मुझ।
तो जूड़ा गजगरी का और करैलाधार करना क्या ॥
जो कोई जाले पिरत की आग में तनमन को यों अपने।
बली संगम बना ऐसे कों फिर आधार करना क्या ॥

कुल्लियात, पृ० ५६

चाल अपनी बिसर गई मंगल।

—

खोल अँखियाँ को अपनी मिस्ल कँवल ।

कँवल का दिल खिला सीनः के दह में ।

हँसली तुझ गल में देख कहते हैं ।
चाँद से मुक्ख का है यों हाला ॥
नैन मिर्गों की घाँस पकड़ी मुख ।
देख तेरी अंखियाँ का दुंबाला ॥

मुझे अचरज यही आता पिया के पान खाने का ।
न जानूँ क्या सबब याक़ूत असली के रँगाने का ॥

कुल्लियात, (फुटकर)

अज़मत

मुझे पीत का याँ कोई फल न मिला,
मेरे जी को यह आग लगा सी गई ।
मुझे ऐश यहाँ कोई पल न मिला,
मेरे जी को यह आग जला सी गई ॥
मेरे ताया के पूत थे तुम सभी हम,
रहे एक जगह पले एक ही साथ ।
मेरे बाप ने उम्र जो पाई थी कम,
उन्हें छीन के ले गया मौत का हाथ ॥
मैं थी नन्ही सी जान ग़रीब बड़ी,
कभी भूल के दुख न किसी को दिया ।
न तो रूठी कभी न किसी से लड़ी,
मेरी बातों ने घर ही को मोह लिया ॥
थे तो बाले ही तुम पै था तुम को बड़ा,
मेरा ध्यान किसी की मजाल न थी ।

मुझे टेढ़ी नज़र से भी देखे ज़रा,
मुझे खेल में भी तो किया न दुखी ॥
मेरे सिर में तुम्हारा ही ध्यान बसा,
मेरी चाह के राजदुलारे बने।
तुम्हें देवता मान के मन में रखा,
मेरी फूल सी आँखों के तारे बने ॥
मेरा चुन्नू अभी से है इस पै फ़िदा,
यह मुखोली है मोहनी मेरी बहू।
यह चची का कहा मेरे दिल में लिखा,
वहीं दौड़ गया मेरे मुँह पै लहू ॥
इसी बात के घर में जो चर्चे हुए,
सभी कहते थे मुझ को तुम्हारी दुल्हन।
मुझे तुम ने भी अपने लगा के गले,
कई बार कहा "मेरी प्यारी दुल्हन" ॥
हुए पढ़ के निचन्त तो उहदा मिला,
हुआ ग्यान का गुन का जो शहर में नाम।
यह मज़े का नया ही शिगूफ़ा खिला,
लगे मेंह की तरह से बरसने पयाम ॥
मेरे ताया बड़े थे ज़माना शनास,
बड़े ऊँचे घराने में ठहरा पयाम।
गया टूट सा जी गई टूट सी आस,
मेरी चाह का हो गया काम तमाम ॥
बड़ी धूम से आई तुम्हारी दुल्हन,
मैं भी काम में ब्याह के ऐसी जुती।
कोई और थी गो मेरी प्यारी दुल्हन,
कहा सब में बड़ी है बहन को खुशी ॥

मेरा आख़िरी वक़्त है आन लगा,
कोई और तुम्हारी है प्यारी दुल्हन।
मुझे अब भी तुम्हारा ही ध्यान बसा,
न बनी, पै रही हूँ तुम्हारी दुल्हन॥
मुझे जीते जी पीत का फल यह मिला,
मेरे तन को यह आग लगा ही गई।
मुझे प्यार की रीत का फल यह मिला,
मेरे तन को यह आग जला ही गई॥

दकिन में उर्दू

वजही का गद्य

असील मेहर व मुहब्बत का भूका। असील शफ़क़त और मुरव्वत का भूका। जो बादशाह असीलां को मंगता उसे कुछ जफ़ा नैं कि बोले हैं 'असल त कुछ खता नहीं कमजात ते वफ़ा नहीं। काम पड़े बग़ैर किस का जात दिस नहीं आता।' भला हौर बुरा असील हौर कमजात दिस नहीं आता। सबीच बड्याँ बाताँ करते, एक बात कां सौ हिकायताँ करते। जिस आदमी में बहुत अछेगा ग्यान उसीच में कुछ है भले बुरे की पहचान। आदमी बहुत बड़ा गौहर, उस गौहर कों परकना हर किसी कों काम नैं, हर किसी में यो दूर बीनी यो नाज़ुक काम नैं। यो ख़ुदा का देना है, यों क्या जोरां सों लेना है। असील को बला दूर, असील ते साहब शर्म हुज़ूर, असील लोग बादशाहों कों बहुत हैं ज़रूर। 'असील पैकों (पैसों) पर नज़र नहीं करता, असील अपनी शर्म कों मरता, अपने नेम धर्म कों मरता। जो कुछ होता ख़ुदा का भाता। बुरा वक़्त क्या पूछ कर आता।

सबरस, पृ० १४२

उस हुस्न के हमज़ाद कों हाज़िर कर हुस्न के हुज़ूर लाया। हुस्न देख हुई हैरान, यकायक यो किधर ते पैदा हुई यहाँ। परियाँ में ते आई परी। यो भी बहुत तवाज़ा करी, बहुत ताज़ीम करी। वो नाज़ हौर ग़मज़े की घड़ियाँ। एक को एक देख दोनों हँस पड़ियाँ।

—

एक रात बात में बात अक़्ल हौर दिल के लश्कर का क़िस्सा काढ़ी, अपने राज़ का पर्दा फाड़ी। काँटे का ज़ख़्म घाव दर्द कही। अपने हमदर्द पास दर्द कही कि हमना हौर दिल में आशिक़ हौर माशूक़ी की निस्बत दर्मियान है, दो तन हैं वले दो तन कों एक जान है—दोहरा

जे मैं कही सो उन कहा प्रीत है इस बात।
दो मन का एक मन भया अब दो की एक ही बात॥

दिल बाप के मुलाहिज़े सों जब झगड़े में आता है नहीं तो यो झगड़ा उसे कधाँ भाता है। वो आशिक़ साहेबे सूरत साहेबे मुहब्बत, उसे झगड़े सों क्या निस्बत। बात अजब है। उसके झगड़ने कों एक सबब है। यहाँ कुछ हम नैं, इसका कुछ ग़म नैं। वले झगड़ा इताल अक्ल सों आ पड़या है, क़िस्सा मुश्किल खड़या है। हुस्न धन मनमोहन जगजीवन की बात हुस्न की हमज़ाद सुन सब ख़ातिर लिया बिचारी कही ख़ुदा है डर न को, अक़्ल क्या अछे बिचारी।

सबरस, पृ० १६८

———

अनुक्रमणी

क

अनुक्रमणी

ख